जैन भारती

वर्ष 53 • अंक 7 • जुलाई, 2005

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 | Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 53 • जुलाई, 2005 • अंक 7

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
कैसा है मेरा रूप

10
मृत्युंजयी भिक्षु : प्रणाम

12
संघ को प्रणाम

15
धर्मपाल
महत्त्व सटीक सवाल का है, सही उत्तर का नहीं

18
त्सुनेसाबुरो माकीगुची
सांसारिक-आध्यात्मिक जीवन और शिक्षा

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

25
युवाचार्यश्री महाश्रमण
महात्मा महाप्रज्ञ : वक्तृत्व और कर्तृत्व

28
साध्वी कनकश्री
भिक्षु विचार दर्शन : धर्म-अध्यात्म की सही समझ

32
मुनि जयकुमार
समाज-निर्माण और आचार्यश्री महाप्रज्ञ

36
कहानी
आनंदप्रकाश जैन
रथ के पहिए

44
कविता
ध्रुव शुक्ल की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
सुख-दुख : सम्यक् दृष्टि

शीलन

47
साध्वी शुभ्रयशा
आचार्य भिक्षु : कुशल मनोवैज्ञानिक

49
समणी अमितप्रज्ञा
सम्यक् यमो वा संयमः

53
बालकथा
नीला सुब्रमण्यम
सराहना साहस की

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

एकमात्र भीखणजी स्वामी ही हैं

टीकम डोसी कच्छ देश से पाली आया। उसके अनेक विषयों में संदेह उत्पन्न हो गया था, उसे मिटाने के लिए।

तब अन्य संप्रदाय के श्रावकों ने कहा—'टोडरमलजी तुम्हारे संदेहों का निवारण कर देंगे। तुम स्थानक में चलो।' यह कहकर उसे स्थानक में ले गए। उसने टोडरमलजी से चर्चा की। उसे अपने प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर नहीं मिले।

तब टीकम डोसी बोला—'मेरे प्रश्नों का उत्तर देने वाले एक मात्र भीखणजी स्वामी ही हैं, कोई दूसरा मुझे दिखाई नहीं देता।' यह कहकर वह अपने स्थान पर आ गया।

कुछ दिनों बाद स्वामीजी मेवाड़ से मारवाड़ पधारे। पहले सिरियारी आए। वहां से प्रस्थान कर संवत् 1859 का चतुर्मास प्रवास पाली में किया। टीकम डोसी ने स्वामीजी से अनेक प्रश्न पूछे। स्वामीजी ने उनके उत्तर दिए। टीकम डोसी बोला—'बंकचूलिका में कहा गया है, संवत् 1853 के बाद धर्म का उद्योत होगा। इस वचन के अनुसार संवत् 1853 से पूर्व साधु नहीं, ऐसी संभावना होती है।'

तब स्वामीजी ने कहा—'संवत् 1853 से पूर्व साधु नहीं होंगे, ऐसा वहां नहीं कहा गया। यह कहा गया है कि धर्म का बहुत उपकार होगा। इस दृष्टि से धर्म के उद्योत की बात कही गई है। संवत् 1853 से पहले उद्योत अल्प हुआ। उसके बाद उद्योत अधिक होगा।' इस युक्ति से उसे समझा दिया।

स्वामी बताए तो तेले का प्रायश्चित्त

भारमलजी स्वामी बाल-मुनि थे, तब स्वामीजी ने कहा—'कोई गृहस्थ स्वामी बतलाए, ऐसा काम तुझे नहीं करना चाहिए। गृहस्थ स्वामी बतलाए वैसा काम यदि तू करेगा, तो एक तेले का प्रायश्चित्त करना होगा।'

तब भारमलजी स्वामी बोले—'यदि कोई झूठ-मूठ स्वामी बतला दे, तो?'

तब स्वामीजी ने कहा—'कोई झूठ-मूठ स्वामी बतलाए, तो समझ लेना पहले किए हुए पाप उदय में आए हैं।'

भारमलजी स्वामी बड़े विनीत थे। उन्होंने स्वामीजी का वचन शिरोधार्य कर लिया। ऐसे विनीत और उत्तम पुरुष होते हैं, वे किसी को स्वामी बताने का अवसर ही कैसे देंगे? •

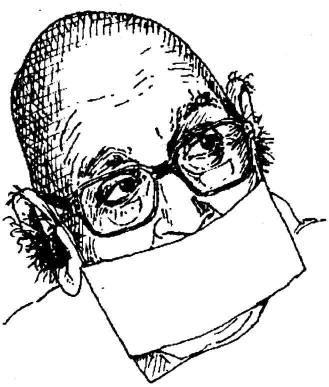

धर्म स्वयं एक अनुशासन है। इसलिए धर्म के क्षेत्र में जीवन समर्पित करने वाले व्यक्तियों के लिए किसी अतिरिक्त अनुशासन की अपेक्षा नहीं रहती। किंतु समूह में सब व्यक्ति एक ही स्तर के नहीं होते। स्तर-भेद से विचार-भेद की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। विचारों की विविधता में सामंजस्य स्थापित करने के लिए विशेष अनुशासन की अपेक्षा रहती है। उसी अपेक्षा ने धर्म-संप्रदायों को जन्म दिया।

अनुशासन जीवन की अनिवार्य अपेक्षा है, इसलिए वह हर क्षेत्र में आवश्यक है। धर्मसंघ तो उसके आधार पर ही टिकते हैं। क्योंकि राज्यसंस्था और समाजसंस्था में दंड-शक्ति, सैन्य-शक्ति तथा अर्थ-शक्ति का उपयोग विहित है। वहां साम, दाम, दंड और भेद—ये चारों नीतियां मान्य हैं। जबकि धर्मसंस्था इन सबसे परे आत्मानुशासन के आधार पर टिकी हुई है। धर्मसंघ में यदि अनुशासन शिथिल हो जाता है तो वह मात्र ढांचा रह जाता है। कहा भी है—'आणाजुत्तो संघो सेसो पुण अट्ठिसंघाओ'—जिस धर्म-संस्था में आज्ञा है, अनुशासन है, वह संघ है, शेष संगठन अस्थियों का ढांचा हैं।

—आचार्य तुलसी

हमारा जीवन द्वंद्वात्मक है। हमारे जीवन की उत्पत्ति और निष्पत्ति में जड़ और चेतन—इन दो तत्त्वों का योग रहता है। पदार्थ जड़ होते हैं, पर जीवन को चलाने के लिए पदार्थ अनिवार्य है। जो पदार्थ का अनासक्त भाव से उपयोग करता है, वह बंधन में नहीं जाता। अनासक्ति की साधना के द्वारा मुक्ति का पथ प्रशस्त होता है।

•

हमारा जीवन पदार्थाश्रित है। जीवन की हर छोटी-बड़ी अपेक्षा पदार्थ से पूरी होती है। पदार्थ की उपलब्धि अर्थसापेक्ष है। इसलिए बहुत आवश्यक है कि अर्थ की प्राप्ति का स्रोत शुद्ध हो। अर्थार्जन में आजीविका-शुद्धि का संकल्प रहे और अर्थ का उपयोग अनासक्ति के संकल्प के साथ हो तो अर्थ कभी अनर्थ का हेतु नहीं बनेगा।

—युवाचार्य महाश्रमण

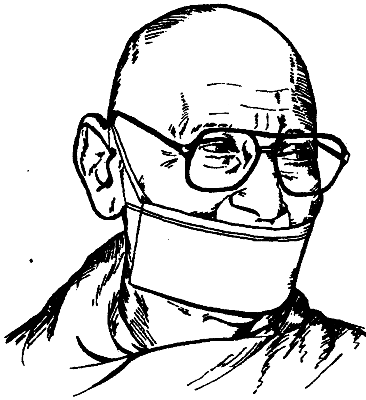

हिंदुस्तान के दो हजार वर्ष के दार्शनिक इतिहास में दो ही व्यक्ति ऐसे हुए हैं जिन्होंने साधन-शुद्धि पर अधिक विचार किया—एक आचार्य भिक्षु और दूसरे महात्मा गांधी। साधन-शुद्धि का सिद्धांत हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत है। जयाचार्य ने हृदय-परिवर्तन पर बहुत बल दिया। उन्होंने कहा—हृदय को बदले बिना अनुशासन का विकास नहीं हो सकता। हृदय-परिवर्तन की बात सुनने में बहुत मीठी लगती है। पर क्या यह स्वयं एक उलझन नहीं है? क्या हृदय बदल सकता है? मनुष्य के स्वभाव को बदलना सबसे कठिन बात है। इसीलिए यह मान्यता बन गई है कि स्वभाव को नहीं बदला जा सकता।

हृदय-परिवर्तन अनुशासन को विकसित करने का एक उपाय है। हम निरुपाय नहीं हैं, यह प्रसन्नता की बात है। पर वह कैसे हो सकता है, इसे वैज्ञानिक भाषा में समझना जरूरी है। वैज्ञानिक शब्दावली में हृदय-परिवर्तन का अर्थ है—जैविक रसायनों का परिवर्तन। ये रसायन हमारे व्यवहार और आचरण को नियंत्रित करते हैं। इन्हें बदले बिना अनुशासनहीनता की समस्या को नहीं सुलझाया जा सकता। श्वेत अश्वेतों पर आक्रमण कर रहे हैं। सवर्ण असवर्ण जातियों से घृणा कर रहे हैं। कभी जातीयता समस्या बनकर उभरती है, तो कभी सांप्रदायिकता। ये सब अनुशासनहीनता की चिनगारियां हैं, जो समय-समय पर उछलती रहती हैं। पूरा समाज इनकी लपेट में ताप और संताप का अनुभव करता है। क्या ये जातीय और सांप्रदायिक उपद्रव अनुशासनहीनता के कारण हो रहे हैं? गहरे चिंतन के बाद इन्हें अनुशासनहीनता के कारण नहीं माना जा सकता। ये सब अनुशासनबद्धता के कारण हो रहे हैं। जाति या नस्ल के नाम पर एक अनुशासन चल रहा है। उससे अनुशासित लोग जातीय उपद्रव कर रहे हैं। संप्रदायों का भी अपना अनुशासन है। कुछ संप्रदाय उपद्रवों को अनावश्यक नहीं मानते। इसीलिए सांप्रदायिक उपद्रव फैलते हैं। सही अर्थ में आदमी अनुशासनहीन नहीं है। उसका व्यवहार और आचरण किसी-न-किसी अनुशासन से प्रतिबद्ध है। यह अलग प्रश्न है कि आज जो अनुशासन की मांग है, उसकी भाषा क्या है, उसका अर्थ क्या है, उसके पीछे चिंतन क्या है?

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

सुख-दुख : सम्यक् दृष्टि

यह कहना बड़ा दिलचस्प होगा कि जब तक दुख नहीं होगा, सुख प्राप्त ही नहीं हो सकता। विचारकों और शास्त्रकारों ने माना है कि दुख आने पर ही कोई सुख पा सकता है। जब तक वह नहीं आएगा, सुख पाया नहीं जा सकता। इसे एक दिलचस्प पक्ष ही कहा जाएगा कि दुख के बाद ही सुख आता है। निश्चय ही यह एक विवादास्पद पक्ष भी है।

सुख और दुख अनुभूति के स्तर पर महसूस किया जा सकता है और ऐसा मानते हुए पहले दुख और फिर सुख की बात कहने वालों का मत है कि भूख, प्यास, कामवासना पहले उत्पन्न होती है, यानी कि इनकी पीड़ा का अनुभव होता है और ऐसा होने पर इसे शांत करने का उपक्रम होता है और शांत होने पर सुखानुभूति होती है। जैसे तेज प्यास अगर हो और वह शांत न हो तो पीड़ा या कि दुख हुआ, ज्योंही प्यास शांत हुई, सुख प्राप्त हो गया। महाभारत में कहा बताया कि पहले जब कोई तृष्णा उत्पन्न होती है, तब उसकी पीड़ा से दुख उत्पन्न होता है और उस दुख की पीड़ा से फिर सुख उत्पन्न होता है। इसलिए यह कहा गया कि दुख का निवारण ही सुख है। सुख कोई भिन्न वस्तु नहीं है। इसलिए यह भी कहा गया कि सभी सुख तृष्णामूलक हैं।

नैयायिकों ने सुख-दुख को वेदना कह कर उसकी व्याख्या की है। यह कहा गया कि—'अनुकूलवेदनीयं सुखं, प्रतिकूलवेदनीयं दुखं'। इसका तात्पर्य यह हो जाता है कि सुख हो या दुख—दोनों हैं वेदनीय ही। धर्म या अध्यात्म की दृष्टि को एक बार छोड़ दें और सामान्य स्तर से इस पर विचार करें तो बहुत-से ऐसे लोग पाएंगे कि खुशी के क्षणों में उनकी आंखें छलक पड़ती हैं और पास बैठे कोई स्वजन कह पड़ते हैं कि—अरे! यह क्या कर रहे हैं? पर, वे आंसू अवसाद के नहीं, खुशी के होते हैं। ऐसे कई उदाहरण दिए जा सकते हैं, जब ऐसा घटित हो जाता है। संवेदना के अपने-अपने स्तर होते हैं और वही ऐसा करवाते हैं। अतः यह समीचीन लगता है कि नैयायिक इसे 'अनुकूलवेदनीयं सुखं' कहते हैं।

लेकिन यह मत कहां तक युक्तिपूर्ण माना जाए कि दुख हो तभी सुख प्राप्त होता है। कष्ट उठाओ, सुख हासिल हो जाएगा। जिसे हम सामान्य सुख मानते हैं—बहुत-से लोग ऐसे होंगे कि बिना कुछ किए ही उनको वह सुख प्राप्त हो जाता है। जैसे कि भूख नहीं है, पर भोजन की थाली सामने है और प्यास न होते हुए भी मनोनुकूल जल, शर्बत की मनुहार स्वतः होती रहती है। तात्पर्य यह कि कोई इच्छा जगी ही नहीं, किसी प्रकार की तृष्णा मन में उठी ही नहीं और सब-कुछ नियत समय पर उपलब्ध हो गया। इस तरह दुख हुए बिना ही सुख प्राप्त हो गया। पर, यहां हमें थोड़ा बारीकी से विचार करना चाहिए—यह कि किसी वस्तु के सम्मुख आते ही हम उसका

सदा सेवन नहीं कर लेते हैं। क़ई बार मनाही भी कर दी जाती है। ठीक इसी तरह कई बार कोई वस्तु सामने आते ही उसका सेवन करने की इच्छा जग जाती है। इच्छा का यह जगना, उसका सेवन और उससे मिलने वाली तृप्ति अंततः सुख का एहसास ही देती है। इस तरह देखें तो हमें मानना होगा कि इच्छा और तृप्ति तक की जो क्रिया होती है, क्या यह दुख-सुख की ही यात्रा नहीं? ऐसा ही है।

दुख और सुख की यही क्रिया निरंतर चलती है। कोई बीमार हुआ और फिर स्वस्थ हो गया—मानना होगा कि दुख और फिर सुख प्राप्त हुआ। इसी तरह भौतिक सुखोपभोग के संसाधनों की उपलब्धता यदि सुख देती है तो अप्राप्य-काल को दुख की श्रेणी में रखना होगा। यह पृथक् बात है कि उसका एहसास सभी को एकरूप नहीं होता। पर, सामान्य रूप से हर मनुष्य सुख की अपेक्षा ही करता है। दुख की चाह किसी को नहीं है। माना भी यही गया है कि नित्य सुख की प्राप्ति करना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है।

निश्चय ही दुख और सुख शारीरिक भी हैं और मानसिक भी। किसी के मन की प्रसन्नता का आकलन कभी भी उसकी दरिद्रता या अमीरी से नहीं हो सकता। एक व्यक्ति सब तरह के संसाधनों से परिपूरित है, पर मानसिक रूप से वह सुखी हो; यह आवश्यक नहीं। इसलिए यह माना गया है कि शारीरिक सुख की बनिस्बत मन का सुख अधिक श्रेष्ठ है। इस मत को मानने से हमें फिर यह स्वीकार करना होगा कि दुख के बाद ही सुख की अनुभूति हो—यह अनिवार्य नहीं। यहां यह विचारणीय है कि सुख हो या दुख—हर स्थिति में समभाव से कैसे रहा जाए? दोनों ही स्थितियों में जब समभाव आ जाएगा तो दुख या सुख एक समान हो जाएंगे। दोनों ही स्थितियों में फिर कोई अंतर नहीं रहेगा। अनुभूति का यह श्रेष्ठ स्तर कहा जा सकता है। एक आध्यात्मिक स्तर।

यदि मनुष्य का परम पुरुषार्थ नित्य-सुख को प्राप्त करना है, तो वह तभी संभव है कि वह समभाव की साधना करे। हम देखते हैं कि बहुत-से लोग विषाद के प्रबल क्षणों में भी अपना संतुलन नहीं खोते और जटिलतम दुस्साध्य अवस्था में भी वे समभाव में रह लेते हैं। इसे समभाव की साधना का ही प्रतिफल माना जा सकता है। यह साधना मानसिक स्तर पर ही की जा सकती है और इसके लिए जिस तरह के पुरुषार्थ की आवश्यकता है, उस ओर अग्रसर होना कठिन नहीं है, बेशक, इसके लिए उचित दिशाबोध अपेक्षित है।

कई स्तरों पर ऐसे प्रयोग चल रहे हैं कि मनुष्य मानसिक स्तर पर समभाव में रहने के लिए प्रतिबद्ध हो सके। जीवन-विज्ञान और प्रेक्षाध्यान ऐसी ही विधियां हैं। समग्र तौर पर यदि इनके प्रयोग होने लगें तो आने वाले समय में सार्थक नतीजे आ सकते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षा के वर्तमान ढांचे पर पुनर्विचार हो और जीवन-विज्ञान, प्रेक्षाध्यान को इसमें समाहित किया जाए। इसी तरह का एक प्रयोग 'जीवन-विद्या' नाम से भी चल रहा है। इसका साहित्य भी उपलब्ध है। एक संस्था—'सिद्ध' (सोसायटी फॉर इंटीग्रेटेड डेवलपमेंट ऑफ हिमालयाज) की ओर से 'जीवन-विद्या' पर काम किया जा रहा है। अलग-अलग शिविरों के माध्यम से यह काम हो रहा है। कुछ अन्य स्तरों पर भी 'जीवन-विद्या' पर काम हो रहा है। ऐसे सभी प्रयोगों की कोई सामूहिक परिणति सामने आए—यह विचार होना चाहिए।

हमारा समाज जिस दुरूह भयावहता की ओर जाता हुआ नजर आ रहा है, यह जरूरी है कि इन मुद्दों पर गंभीरता से सोचा जाए और किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुंचा जाए।

—शुभू पटवा

यह सुखद और प्रेरक संयोग है कि तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक स्वामी भीखणजी और वर्तमान अधिष्ठाता आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का जन्मदिवस जुलाई माह में है। तेरापंथ की स्थापना का पावन पर्व भी इसी महीने में आया है। 4 जुलाई, आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी को आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का पावन जन्मदिवस है। आचार्यश्री भीखणजी का जन्मदिन 19 जुलाई, आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी है और तेरापंथ का स्थापना दिवस आषाढ़ पूर्णिमा, 21 जुलाई को है। श्रद्धा और उत्प्रेरणा के इन पावन पर्वों के कारण जुलाई का महीना विशेष महत्त्व का हो गया है। इसी महत्ता को ध्यान में रख 'जैन भारती' के इस अंक में इन अवसरों पर कुछ विशेष सामग्री अपने पाठकों के लिए प्रस्तुत की गई है। —सं.]

विमर्श

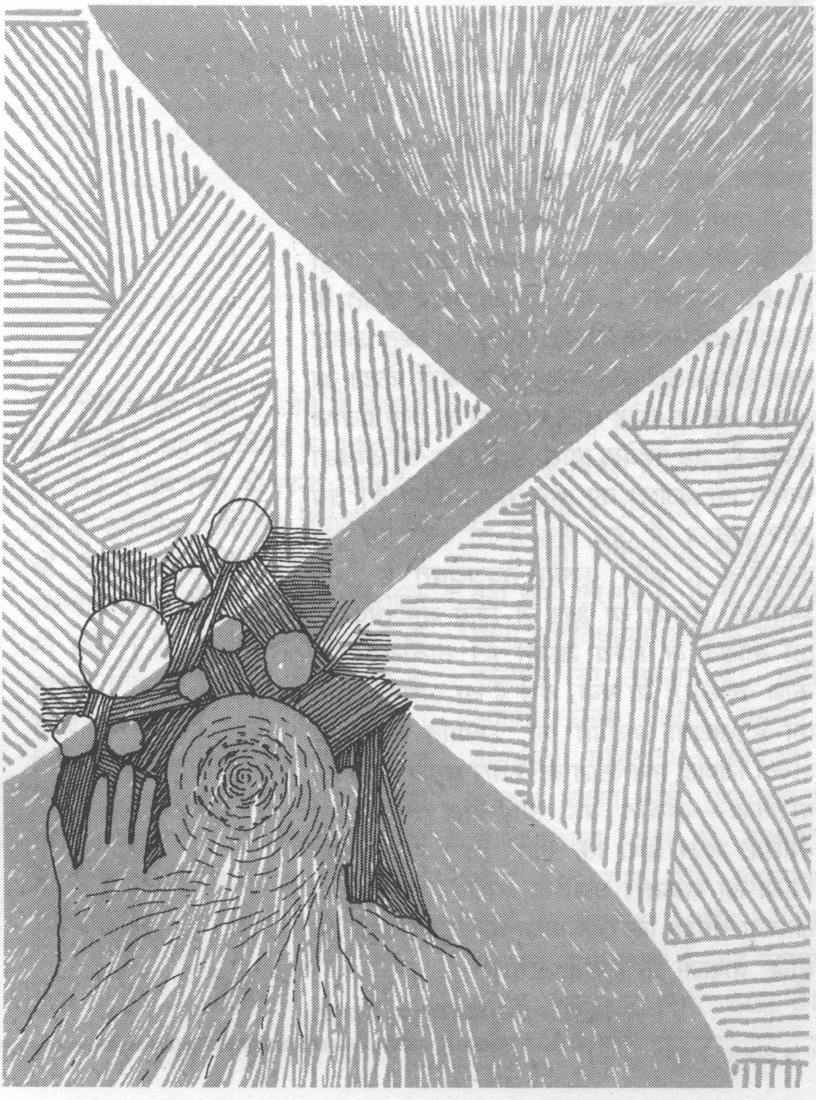

हम लोग किसी घड़ी को, उसके ठीक-ठीक समय बतलाने-न बतलाने पर, अच्छी या खराब कहा करते हैं, परंतु इसी नीति का उपयोग मनुष्य के कार्यों के संबंध में करने से पहले हमें यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि मनुष्य घड़ी के समान कोई यंत्र नहीं है। यह बात सच है कि सब सत्पुरुष जगत के कल्याणार्थ प्रयत्न किया करते हैं; परंतु इससे यह उलटा अनुमान निश्चयपूर्वक नहीं किया जा सकता कि जो कोई लोककल्याण के लिए प्रयत्न करता है, वह प्रत्येक साधु ही है। यह भी देखना चाहिए कि मनुष्य का अंतःकरण कैसा है। यंत्र और मनुष्य में कुछ भेद है तो यही कि एक हृदयहीन है और दूसरा हृदययुक्त है और इसीलिए अज्ञान या भूल से किए गए अपराध को कायदे से क्षम्य मानते हैं। तात्पर्य; कोई काम अच्छा है या बुरा, धर्म है या अधर्म, नीति का है अथवा अनीति का, इत्यादि बातों का सच्चा निर्णय उस काम के केवल बाहरी फल या परिणाम—अर्थात् वह अधिकांश लोगों को अधिक सुख देगा कि नहीं, इतने ही से नहीं किया जा सकता। उसी के साथ-साथ यह भी जानना चाहिए कि उस काम को करने वाले की बुद्धि, वासना या हेतु कैसा है।

—लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

“

कैसा है मेरा रूप

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

मनुष्य एक ही प्रकार का जीवन नहीं जी सकता। जीवन में विविधता होती है तो जीने के प्रति सहज आकर्षण बना रहता है। संभव है, इसी कारण विधायक और निषेधात्मक भावों का अस्तित्व सरजा गया हो। ये दोनों ही भाव मनुष्य में जितने प्रभावशील हैं, अन्य प्राणियों में अपेक्षाकृत कम हैं। सभी मनुष्यों में इनकी मात्रा समान नहीं होती। कौन व्यक्ति इनसे कितना प्रभावित है—यह जानने के लिए सबसे बड़ा पैमाना है आत्मनिरीक्षण का। यह एक सुचिंतित प्रक्रिया है। इसके द्वारा व्यक्ति मुखौटों की दुनिया से बाहर निकल कर आत्म-साक्षात्कार कर सकता है।

स्वयंवर भावों का

मनुष्य का पूरा व्यक्तित्व भावों पर निर्भर है। फिर भी हरएक व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसमें किस प्रकार के भाव सक्रिय हैं। जिसके मन में यह जिज्ञासा जाग जाती है, उसके लिए समाधान का रास्ता खुला रहता है। जैन आगमों में अठारह प्रकार के पापों का उल्लेख है। हिंसा, असत्य, चोरी, वासना, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, रति-अरति, मायामृषा और मिथ्या-दर्शनशल्य—ये अठारह पाप निषेधात्मक भाव हैं। इनमें कुछ भावों का संबंध समूह के साथ है और कुछ भाव वैयक्तिक हैं। कुछ भाव ऐसे हैं, जो व्यक्ति और समूह दोनों से जुड़े हुए हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ—ये भाव वैयक्तिक और सामुदायिक, दोनों, हैं। कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद आदि भाव पर-सापेक्ष हैं। समूह में रहने वाला व्यक्ति स्वार्थ, सुविधा, प्रतिष्ठा या प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर इस प्रकार के भावों को जन्म देता है। कुछ व्यक्ति अकारण ही इन निषेधात्मक भावों के शिकार हो जाते हैं। उनके बारे में यही माना जा सकता है कि ऐसे लोग या तो आदत से विवश हैं या आत्मप्रतिष्ठ क्रोध आदि से ग्रस्त हैं।

जिन निषेधात्मक भावों की यहां चर्चा की गई है, उनसे विपरीत भावों को विधायक भाव के रूप में पहचाना जा सकता है। इनमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, असंग्रह, सहिष्णुता, कोमलता, सरलता, संतोष, मैत्री, गुणग्राहकता आदि प्रशस्त भावों का समावेश होता है। प्रशस्त और अप्रशस्त भावों के स्वयंवर में कौन व्यक्ति किसका वरण करता है, यह उसकी अपनी समझ पर निर्भर करता है।

निषेधात्मक भावों में जीने से लाभ है या अलाभ? यह भी चिंतन का एक पहलू है। क्या ये भाव शरीर को स्वस्थ रखते हैं? मन को समाधिस्थ रखते हैं? विचारों के द्वंद्व को समाप्त करते हैं? समूह के साथ समायोजन की अभिवृत्ति जगाते हैं? व्यक्ति को सहिष्णु बनना सिखाते हैं? कोई भी मनुष्य निषेधात्मक भावों की बैसाखी के सहारे ऊर्ध्वारोहण नहीं कर सकता। निषेधात्मक भावों से न तो स्वास्थ्य मिलता है और न समाधि। इनकी गिरफ्त से मुक्त भी होना कठिन है। सब-कुछ बदल सकता है, पर मनुष्य के संस्कारों का बदलाव बहुत जटिल है।

”

समझ या विवेक की रोशनी में हर भाव का चेहरा साफ-साफ दिखाई दे सकता है। अपेक्षा इतनी ही है कि उसका वरण करने से पहले व्यक्ति अपनी आंखों का आवरण उतार कर उसे अच्छी तरह से परख ले।

झांकना अपने भीतर

'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं'—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने की बात सीधी तो नहीं है, पर महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः मनुष्य की वृत्ति है कि वह दूसरों को ही देखता है। दूसरों का जो भाव या व्यवहार उसे ठीक नहीं लगता, उसी भाव या व्यवहार में वह स्वयं बहता है और उसे कुछ भान ही नहीं रहता। संभव है, वह अपने बारे में इतना आश्वस्त हो जाता है कि उसका कोई काम गलत होता ही नहीं। यही वह बिंदु है, जहां से बदलाव की दिशा बंद हो जाती है।

स्वभाव-परिवर्तन का सूत्र है—विनिवर्तना। विनिवर्तना का अर्थ है निषेधात्मक भावों से अप्रभावित रहने का संकल्प। इस संकल्प की स्वीकृति के साथ ही ऐसा पुरुषार्थ शुरू हो जाता है, जो पहले से प्रभावी भावों को निर्वीर्य बना सके, उनसे छुटकारा दिला सके। इसके लिए गंभीर पर्यालोचन की अपेक्षा रहती है। अपने भीतर झांकने वाला व्यक्ति ही यह बोध पा सकता है कि उसमें कौन-सा भाव अधिक सक्रिय है।

कैसा है मेरा रूप

भावों का दर्पण सामने रखकर अपना चेहरा देखना आवश्यक है। चेहरा भी बाहरी नहीं, भीतरी देखना है। जब तक वह दिखाई नहीं देगा, व्यक्ति अपने स्वरूप से परिचित नहीं हो सकेगा। स्वरूप-बोध के लिए उसमें जिज्ञासा जगे—मैं कैसा हूं? जिज्ञासा के बाद दूसरी बात है बुभुत्सा। मैं कुछ होना चाहता हूं। जब तक यह भाव नहीं जागता है, तब तक पुरुषार्थ का द्वार नहीं खुल सकता। पुरुषार्थ का दरवाजा खटखटाने के लिए चिकीर्षा—कुछ करने की इच्छा का होना आवश्यक है। अन्यथा व्यक्ति किसी भी दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता।

दिशा-निर्धारण के अभाव में किया गया पुरुषार्थ सार्थक नहीं होता। राजस्थानी में एक कहावत है—'आंधो बंटै जेवड़ी लारै पाडो खाय।' कोई अंधा व्यक्ति हरी-हरी

मृत्युंजयी भिक्षु : प्रणाम

❑ *आचार्यश्री महाप्रज्ञ* ❑

मैं प्रणाम करता हूं कंटालिया की उस धरती को, जिसने एक महान व्यक्ति को जन्म दिया। मैं प्रणाम करता हूं अपनी माता साध्वी बालूजी को, जिन्होंने मेरा आचार्य भिक्षु के नाम और आचार्य तुलसी के सान्निध्य से परिचय कराया। मैं प्रणाम करता हूं अपने गुरु आचार्य तुलसी को, जिन्होंने मुझे आचार्य भिक्षु की आत्मा से परिचित कराया।

मेरी दृष्टि में जन्म का कोई मूल्य नहीं होता। मूल्य होता है मृत्यु का। आचार्य भिक्षु ने जन्म और मृत्यु को समान महत्त्व दिया। मैं आचार्य भिक्षु को मृत्यु का महान सूत्रकार मानता हूं। उन्होंने जीवन-भर मृत्यु की आराधना और उपासना की। वास्तव में जन्मदिन उसी का मनाया जाता है जो मृत्यु का उपासक होता है।

आचार्य भिक्षु जन्मोत्सव

जन्म का सूत्र है मृत्यु और मृत्यु का सूत्र है अभय। जिस व्यक्ति ने अभय को साध लिया, उसने मृत्यु की कला को सीख लिया। जिसने मृत्यु की कला सीख ली, उसने जन्म को सफल बना डाला। आचार्य भिक्षु मृत्यु के महान उपासक और सत्य के समर्थ व्याख्याकार थे। उनका व्यक्तित्व अभय से ओत-प्रोत था। एक नहीं, अनेक घटनाएं साक्षी हैं इस अभयमुद्रा की। उनका पहला निवास-स्थल था श्मशान की छतरियां। वे वहां रहे। अभय का कवच पहने हुए रहे। उल्लास ने उनका साथ दिया और वे आगे-से-आगे बढ़ते गए।

पहले चातुर्मास का स्थल था—अंधेरी ओरी। लोगों ने यह स्थान इसलिए बताया कि 'सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे।' भीखणजी केलवा गांव में आ गए। लोगों ने सोचा, निकालेंगे तो लोग बुरा कहेंगे। ऐसा काम करें कि बिना मारे ही ये मृत्युधाम पहुंच जाएं। 'अंधेरी ओरी' ऐसा स्थान था, जहां जो रात को रहा, वह सवेरे मरा मिला। भीखणजी वहां रात में रहे, पर मरे नहीं। जो मरकर अमर बन जाते हैं, वे मरें कैसे? वे कभी मरते ही नहीं। मौत का भय उन्हें नहीं लगा। लोगों ने पहले यक्ष का भय, भूत का भय दिखाया। पर वे अभय थे।

→

घास की रस्सी बनाता है, जितनी रस्सी बनती, उसे वह पीछे की ओर सरका देता। वहीं भैंस का पाडा खड़ा होता है। जितनी रस्सी पीछे सरकती, पाडा उसे चट कर जाता।

लक्खण नहिं पलटै लाखां

निषेधात्मक भावों में जीने से लाभ है या अलाभ? यह भी चिंतन का एक पहलू है। क्या ये भाव शरीर को स्वस्थ रखते हैं? मन को समाधिस्थ रखते हैं? विचारों के द्वंद्व को समाप्त करते हैं? समूह के साथ समायोजन की अभिवृत्ति जगाते हैं? व्यक्ति को सहिष्णु बनना सिखाते हैं? कोई भी मनुष्य निषेधात्मक भावों की बैसाखी के सहारे ऊर्ध्वारोहण नहीं कर सकता। निषेधात्मक भावों से न तो स्वास्थ्य मिलता है और न समाधि। इनकी गिरफ्त से मुक्त भी होना कठिन है। सब-कुछ बदल सकता है, पर मनुष्य के संस्कारों का बदलाव बहुत जटिल है। कहा भी गया है—

बारै कोसां बोली पलटै,
फल पलटै पाकां।
जरा आयां केश पलटै,
लक्खण नहिं पलटै लाखां।।

बारह कोस के बाद भाषा बदल जाती है। परिपाक होने के बाद फल बदल जाते हैं। बुढ़ापा आने के बाद केशों का रंग बदल जाता है, किंतु मनुष्य का स्वभाव लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं बदलता। इस जनश्रुति को एकांततः सत्य न माना जाए तो भी इतना निश्चित है कि सघन पुरुषार्थ के बिना संस्कार नहीं बदल सकते।

संस्कारों में परिवर्तन हो ही नहीं सकता, यह मान्यता का अभिनिवेश है। यदि इस बात में सचाई होती तो साधना, तपस्या और प्रयोगों की व्यर्थता सिद्ध हो जाती। फिर न प्रशिक्षण की अपेक्षा रहती है और न प्रयोगों की मूल्यवत्ता प्रमाणित होती है। आज भी हमारी यही आस्था है कि मनुष्य बदल सकता है, बशर्ते कि वह बदलाव के लक्ष्य से प्रतिबद्ध हो। तब उसकी सोच के बिंदु निम्नानुसार होने चाहिए—

मनुष्य चक्षुष्मान् है या नहीं?
मनुष्य कुछ देखता है या नहीं?
मनुष्य में महत्त्वाकांक्षा है या नहीं?
मनुष्य में स्वार्थी मनोवृत्ति है या नहीं?
मनुष्य का दृष्टिकोण सुविधावादी है या नहीं?
मनुष्य का विश्वास परिवर्तन में है या नहीं?

→

आज हम आचार्य भिक्षु को एक महान तपस्वी, महान मनीषी, महान दार्शनिक, महान द्रष्टा, महान चेतना के धनी और रहस्यमय व्यक्तित्व के पुंज के रूप में जानते-मानते हैं। इस चित्रण का श्रेय है—श्री मज्जयाचार्य को। वे उनके महान भक्त और व्याख्याकार थे। यदि वे नहीं होते और होकर भी अतीत का साफ-साफ आकलन नहीं करते और आकलन करके भी यदि उसकी ठीक व्याख्या नहीं करते, संगति नहीं बिठाते, तो आचार्य भिक्षु का अनोखा व्यक्तित्व छिपा ही रह जाता।

वे तेरापंथ दर्शन के प्रणेता ही नहीं रहे, हजारों-हजारों व्यक्तियों के इष्ट भी बन गए। तभी तो उनका नाम 'मंत्ररूप' बन गया। 'भिक्षु'—इस शब्द की संरचना या ध्वनि ऐसी है कि यह मंत्रवत् प्रभावक है। मंत्र और कुछ नहीं, शब्द-संयोजना और ध्वनि का ही तो चमत्कार है।

आचार्य भिक्षु निरंतर तूफानों का सामना करते रहे। समस्याएं आती रहीं और वे चीरकर आगे बढ़ते रहे, समाधान देते रहे। तूफानों से घबराना उन्होंने सीखा ही नहीं। जिसकी निष्ठा में तपस्या का तेज होता है, सत्य का बल होता है—वह संघर्षों में कभी नहीं घबराता। तूफान आते हैं, टकराकर बिखर जाते हैं। संघर्ष की चिनगारियां उछलती हैं, पर बुझ जाती हैं।

जयाचार्य ने भी संघर्ष और तूफानों का जिंदादिली से सामना किया और प्रत्येक प्रहार को हंसते-हंसते झेला। आचार्य तुलसी का जीवन भी संघर्षों में पला है, पुष्ट हुआ है और तेजस्वी बना है। तीनों समान हैं। आचार्य भिक्षु का तो यह वरदान ही है कि इस आसन पर आने वाला आचार्य भिक्षु बनकर ही बैठ सकता है, दूसरा नहीं। इस आसन पर वही बैठ सकता है जो श्रमशील, संघर्षशील और कर्मशील हो।

आज आचार्य भिक्षु का जन्मदिन है। आचार्य भिक्षु बनकर ही आचार्य भिक्षु का जन्मदिन मनाया जा सकता है। प्राचीन आचार्यों ने कहा है—यदि देवता की पूजा करनी है, तो देवता बनकर ही करो। देवता बने बिना देवता की पूजा नहीं की जा सकती। जो कष्टों से घबराता है, संघर्ष और तूफान से भयभीत होता है, विचलित होता है—वह आचार्य भिक्षु का जन्मदिन नहीं मना सकता। ❖

मनुष्य का पुरुषार्थ परिवर्तन की दिशा में है या नहीं?

मनुष्य में सहिष्णुता है या नहीं?

निषेधात्मक भावों का परिणाम

ये कुछ ऐसे सवाल हैं, जो व्यक्ति को अपनी स्थिति के प्रति सचेत करते हैं। वह इस बात का अनुभव करे कि समाज में वही आदमी उपेक्षित या तिरस्कृत होता है, जो निषेधात्मक भावों में जीता है, जिसका आभामंडल मलिन होता है और जो कुछ जानने, बनने तथा करने की स्थिति में नहीं रहता।

गंगा नदी के तट पर बलकोष्ठ नामक चांडाल रहता था। उसकी पत्नी का नाम गौरी था। उसके एक पुत्र था। उसका नाम बल था। कुछ बड़ा होने पर वह हरिकेश नाम से प्रसिद्ध हुआ। एक दिन वह अपने साथियों के साथ खेल रहा था। वह खेल-खेल में लड़ने लगा। उसे खेल-मंडली से बहिष्कृत कर दिया गया।

हरिकेश रुआंसा होकर खड़ा-खड़ा खेल देखने लगा। अचानक वहां एक सांप निकला। लोगों ने उसको पत्थरों से मार डाला। थोड़ी देर बाद वहां एक अलसिया निकला। उसे किसी ने तंग नहीं किया। हरिकेश ने दोनों दृश्य देखे। उसके मन पर गहरी प्रतिक्रिया हुई। उसने सोचा—दुख और तिरस्कार का कारण प्राणी का अपना व्यवहार है। मैं सांप के समान विषैला हूं, इसी कारण मेरे साथियों ने मेरा अपमान किया। यदि मैं अलसिए की तरह निर्विष होता तो अपने साथियों से क्यों बिछुड़ता? चिंतन आगे बढ़ा। उसे जाति-स्मृति ज्ञान हो गया। उसने अपने निषेधात्मक भावों को समझा। उन्हें छोड़ा और साधु बन गया।

जो दिल खोजा आपना

मनोविज्ञान के अनुसार आत्मख्यापन मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। हर व्यक्ति की यह आकांक्षा होती है कि उसका वैशिष्ट्य प्रकट हो। दूसरे लोग उसका मूल्यांकन करें, किंतु अन्य लोगों के प्रति उसका दृष्टिकोण सकारात्मक नहीं होता। वह उनकी विशेषताओं में भी कमी देखता है। अपनी बड़ी-से-बड़ी गलती उसे छोटी दिखाई देती है, जबकि दूसरो का

संघ को प्रणाम

❑ *आचार्यश्री महाप्रज्ञ* ❑

तेरापंथ का अर्थ है—आत्मोत्सर्ग। जो व्यक्ति आत्मोत्सर्ग करना नहीं जानता, वह तेरापंथ को नहीं जान सकता। जिस व्यक्ति में आत्मोत्सर्ग की क्षमता होती है, व्यक्तिगत अहं और व्यक्तिगत स्वार्थ के विसर्जन की क्षमता होती है, वही व्यक्ति तेरापंथ का अर्थ समझ सकता है।

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ का दर्शन दिया। उसमें सबसे पहली बात आत्मोत्सर्ग की कही। समर्पण और आत्मोत्सर्ग का विकास निरंतर हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं। आज तक की हमारी परंपरा में बहुत पहले से आत्मोत्सर्ग और समर्पण की बात रही है, विनम्रता और अनुशासन की बात रही है।

जिस संघ में गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पण होता है, उस संघ का नाम है—तेरापंथ। साधु बनना, पांच महाव्रतों का पालन करना, पांच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना अनिवार्य बात है। किंतु उसमें भी अनिवार्य बात है—समर्पण और अनुशासन की। आचार्य भिक्षु ने सोचा यदि संघ में संगठन और अनुशासन नहीं होगा तो महाव्रतों, समितियों और गुप्तियों का पालन भी नहीं होगा। इसीलिए उन्होंने आचार के साथ-साथ अनुशासन को भी बड़ा महत्त्व दिया।

तेरापंथ स्थापना का 246वां वर्ष

तेरापंथ आचार-प्रधान संघ है, साथ-ही-साथ अनुशासन-प्रधान संघ भी है। जितना मूल्य इसमें आचार का है, उतना ही अनुशासन का भी है। आज तक की हमारी परंपरा ने इस बात को प्रमाणित किया है। जिस व्यक्ति ने अनुशासन को भंग किया, वह आचार में भी स्थिर नहीं रह सका। आचार और अनुशासन दो आंखों की तरह हैं। आचार और अनुशासन हमारे दो हाथों और दो पैरों की तरह हैं। तेरापंथ धर्मसंघ के परिसर में पनपने वाला, तेरापंथ की आत्मा को समझने वाला व्यक्ति इस बात को बड़ी गहराई से स्वीकार करेगा कि अनुशासन की गरिमा बराबर बनी रहे। →

साधारण-सा दोष पहाड़ जितना बड़ा लगता है। यह दृष्टिकोण का ही अंतर है, जो व्यक्ति में अपने दोषों की अच्छाई का भ्रम पैदा कर देता है। अंतर्मुखी व्यक्ति की दृष्टि इतनी पारदर्शी होती है कि वह बाहर के सब आवरणों को चीरकर अपनी दुर्बलताओं को देख लेता है। कबीर ने इसी रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा है—

बुरा जो देखन मैं चला,
बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना,
मुझसा बुरा न कोय।।

मनुष्य और कुछ देखे या नहीं, इतना अवश्य सोचे कि आनंदमय जीवन कैसे जीया जा सकता है। आनंद का स्रोत कहीं बाहर नहीं है। अपने ही भीतर जो स्रोत है, उसे खोजने की जरूरत है। इस खोज में खपना खुद को ही होगा। 'जिन खोजा तिन पाइया' का सिद्धांत अनुभव की वाणी है। भगवान महावीर ने कहा—'पत्तेयं सायं, पत्तेयं वेयणा'—सुख-दुख अपना-अपना है। कोई किसी को न सुखी बना सकता है और न दुखी बना सकता है। दूसरे लोग तो मात्र बैसाखी बन सकते हैं। उनका सहारा उसी को मिलेगा, जो उन्हें स्वीकार करेगा। अन्यथा बैसाखियां तो जड़ हैं। वे किसी को जबरन चलने के लिए प्रेरित नहीं करेंगी। दूसरों के द्वारा सुख-दुख के निमित्त उपस्थित किए जा सकते हैं, पर संवेदन तभी होगा, जब व्यक्ति उन निमित्तों को स्वीकार करेगा।

वर्कशॉप भावों की दुनिया में

मनुष्य अच्छा या बुरा, जो-कुछ करता है, वह उसके अंतर्भावों का परिणाम है। जैसे भाव, वैसी अभिव्यक्ति—यह तथ्य है। इसके आधार पर प्रश्न खड़ा होता है कि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का विधाता है तो वह अवांछनीय प्रवृत्ति क्यों करता है? उसकी हर प्रवृत्ति का परिणाम उसी को भोगना पड़ता है तो वह गलत प्रवृत्ति के प्रेरक भावों को क्यों नहीं छोड़ता? गलत संस्कारों को नहीं

→ आज मुझे गर्व होता है कि तेरापंथ के हर श्रावक को अपनी आनुवंशिकता और पैतृक विरासत के रूप में यह संस्कार मिला है। इसलिए वह अनुशासन और संगठन को बराबर मूल्य देता चला जा रहा है। संघ और संघपति के प्रति अटूट आस्था और समर्पण तेरापंथ की प्रगति का महत्त्वपूर्ण केंद्र है। तेरापंथ की चहुंमुखी प्रगति का आधार यही रहा है और रहेगा।

संघ को प्रणाम

तेरापंथ आज एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर सबको सुखद शीतल छांव दे रहा है। तेरापंथ आज एक दिव्य ज्योति के रूप में अंधकार को प्रकाश में बदल रहा है। नीरसता में सरसता का अंकुरण कर रहा है तथा अनास्था में आस्था को जगा रहा है।

आचार्य भिक्षु का विचार, आचार तथा दर्शन आज भी जीवित है। इस दुनिया में जो जीवित है, जिसमें वर्तमान में सांस लेने की क्षमता है—उसी की पूजा होती है।

आचार्य भिक्षु स्वयं वर्तमान को समझने वाले थे। उन्होंने वर्तमान को जितना समझा, बहुत कम लोग समझ पाते हैं। वर्तमान और विवेक, दोनों, से उन्होंने काम लिया। आचार्य भिक्षु ने केवल एक पद 'आचार्य' का रखा। लोगों ने कहा—'महावीर के समय की यह परंपरा है कि संघ में सात पद होते हैं। महावीर की परंपरा आपने कैसे मिटा दी?' आचार्य भिक्षु ने कहा—'सातों पदों को मैं ही देख रहा हूं।'

जो अनुशासन, जो संगठन, जो व्यवस्था आज तेरापंथ में है, वह न केवल भारतीय समाज में, बल्कि पूरे संसार के धार्मिक संप्रदायों में अद्वितीय मानी जा रही है। उसके पीछे है आचार्य भिक्षु का वर्तमान युग-चेतना के साथ तादात्म्य और विवेकपूर्ण दृष्टि। आचार्य भिक्षु ने कुछ घोषणाएं कीं, कुछ ऐसे सिद्धांत दिए जो आगमों में स्पष्ट नहीं हैं, पर उन्होंने उनको इतना विकसित किया कि आज वे वर्तमान के विचार बन रहे हैं।

तेरापंथ की विचारधारा सदैव युग के साथ चली है। हमारी मान्यता रही है कि तेरापंथ का आचार्य वही होता है जो वर्तमान युग का प्रतिनिधित्व करता है। जब आचार्य भिक्षु की जरूरत थी, तब आचार्य भिक्षु जन्मे। जयाचार्य की जरूरत थी, तो जयाचार्य और कालूगणी की जरूरत थी, तो कालूगणी और आचार्य तुलसी की जरूरत हुई तो आचार्य तुलसी जन्मे। जरूरत है आज युगचेतना के साथ अणुव्रत के माध्यम से तेरापंथ की विचारधारा को जोड़ना। →

बदला जाता है तो जीवन का सुख छिन जाता है, इस जानकारी के बाद भी वह बदलाव की यात्रा की शुरुआत क्यों नहीं करता? बदलने में क्या लाभ और न बदलने में क्या नुकसान है? लाभ-नुकसान के गणित को समझकर भी व्यक्ति क्यों नहीं बदलता है?

बदलाव की प्रक्रिया जटिल हो सकती है, पर वह असंभव नहीं है। जो व्यक्ति बदलना चाहता है, उसके लिए एक पंचसूत्री कार्यक्रम निर्धारित है। उसकी क्रियान्विति के लिए एक 'वर्कशॉप' आवश्यक है। वह 'वर्कशॉप' किसी सभागार में नहीं होगी। उसके लिए भावों की दुनिया में प्रवेश करना होगा। उसके पांच अंग है—

आस्था	-	फैथ
आशा	-	होप
आत्मविश्वास	-	कॉन्फिडेन्स
इच्छा-शक्ति	-	विल पावर
अनुप्रेक्षा अभ्यास	-	ओटो सजेशन

सबसे पहले मनुष्य के मन में यह आस्था होनी चाहिए कि संस्कारों में परिवर्तन हो सकता है। दूसरे बिंदु पर आशा का दीप प्रज्वलित होता है कि परिवर्तन होगा। तीसरे बिंदु पर आत्मविश्वास इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि वह परिवर्तन करके रहेगा। चौथा बिंदु विश्वास के अनुरूप इच्छाशक्ति या संकल्पशक्ति की पुष्टि पर जाकर ठहरता है। पांचवां बिंदु है अभ्यास। जब तक सफलता न मिले, तब तक निरंतर अभ्यास किया जाए। अनुप्रेक्षा के प्रयोग से भावों को बदला जाए। भाव-परिवर्तन ही व्यवहार में परिवर्तन की बुनियाद है। इस बुनियाद पर खड़ा होने वाला व्यक्ति ही बदलाव के चमत्कार को देख सकता है।

मनुष्य का जीवन बहुरंगी है। जिंदगी के बदलते रंगों से परिचित होने के लिए भावजगत से परिचित होना होगा। जीवन के रंग प्रशस्त हों, आकर्षक हों, सर्जनात्मक हों और अपनी उज्ज्वलता से अंधेरों को दूर करने वाले हों। यह अभीप्सा हर व्यक्ति में होती है, पर अभीप्सा कोई जादुई डंडा नहीं है, जिसे घुमाकर चुटकी बजाते ही सब-कुछ हासिल कर लिया जाए। यथार्थ की धरती कंटीली हो सकती है, पर भावों के गुलाब खिलाने की उर्वरता उसी में है। मनुष्य अपने जीवन के यथार्थ को समझे और निषेधात्मक भावों की पकड़ से अपने-आप को मुक्त करे। ❖

→

आज के युग की अपेक्षा है—शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक समस्याओं के समाधान की। गरीबी की समस्या का समाधान धार्मिक मंच से नहीं, अपितु कृषि के विकास से होगा; किंतु मानसिक समस्या का समाधान भौतिक जगत के पास नहीं है। किसी वैभव की सत्ता में इतनी ताकत नहीं जो इस समस्या का समाधान बता सके। आध्यात्मिक और धार्मिक मंच ही इस समस्या का समाधान दे सकते हैं। तेरापंथ ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की क्षमता अर्जित की है। अपेक्षा उसी से की जा सकती है जिसके पास शक्ति हो। स्वयं शक्तिहीन दूसरों की समस्या का समाधान नहीं दे सकता। बुझी हुई राख कभी प्रकाश नहीं दे सकती। प्रज्वलित ज्योति ही अंधकार को प्रकाश में बदल सकती है। तेरापंथ ने स्वयं शक्ति अर्जित की है। अनुशासन, संगठन, व्यवस्था, अहंकार और ममकार का विसर्जन, सत्यनिष्ठा और ब्रह्मचर्य—ये हमारी शक्ति के स्रोत हैं।

जो संघ अपने संयम और अनुशासन से शक्ति-संपन्न हो उससे मानव जाति अपेक्षा रखती है। तेरापंथ ने उन अपेक्षाओं को पूरा करने का प्रयत्न किया है—अणुव्रत के माध्यम से, प्रेक्षा-ध्यान के माध्यम से, नए विचार और सृजनात्मक दृष्टिकोण के माध्यम से।

आज तक तेरापंथ की ओर से किसी भी संप्रदाय के विरोध में दो पंक्तियां भी नहीं लिखी गई हैं। दो सौ पैंतालीस वर्षों का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। जिसका इतना सृजनात्मक और रचनात्मक दृष्टिकोण रहा हो, वही देने की क्षमता में आता है। इस महान शक्तिशाली दायित्व-बोध, युगबोध और युग-चेतना के साथ चलने वाले संघ को प्रणाम। ❖

समग्र समाज के लिए स्वाधीनता का अर्थ है नारी और पुरुष दोनों की स्वाधीनता। केवल ऊंचे वर्गों को ही नहीं, अनुन्नत वर्गों को भी स्वाधीन होना होगा। धनी, गरीब, युवा, वृद्ध, सभी संप्रदाय, अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक समाज एवं सभी वर्गों और सभी व्यक्तियों को स्वाधीन करना होगा। इस तरह विचारने पर लगता है, स्वाधीनता का अर्थ है साम्य और साम्य का मतलब है भ्रातृत्व।

—सुभाषचंद्र बोस

महत्त्व सटीक सवाल का है, सही उत्तर का नहीं

धर्मपाल

हमारे पैरों के नीचे अपनी कोई जमीन नहीं है। अपने चित्त व काल का अपना कोई चित्र नहीं है। अपनी कोई विश्वदृष्टि नहीं है। इसलिए ठीक-ठाक चलने वाले समाजों के लोग जो बातें सहज ही जान जाते हैं, वही बातें हमें भूल-भुलैया में डाले रखती हैं। राज, समाज व व्यक्ति के आपसी संबंध क्या होते हैं? किन-किन क्षेत्रों में इनमें से किस-किस की प्रधानता होती है? व्यक्ति-व्यक्ति के बीच संबंधों के आधार क्या हैं? शील क्या होता है? शिष्ट आचरण क्या होता है? शिक्षा क्या होती है? सौंदर्य क्या होता है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न हैं, जिनके उत्तर एक स्वस्थ समाज में किसी को खोजने नहीं पड़ते। अपनी सहज परंपरा से जुड़े और अपने चित्त व काल के अनुरूप चल रहे समाजों में ये सब बातें अपने-आप परिभाषित होती चली जाती हैं। पर, क्योंकि हम अपने मानस व काल की समझ खो बैठे हैं, अपनी परंपरा के साथ जुड़े रहने की कला भूल गए हैं, इसलिए ऐसे सभी प्रश्न हमारे लिए सतत खुले पड़े हैं। देश के साधारण लोगों में सही चिंतन व सही व्यवहार का कोई सहज विवेक शायद अभी भी बचा ही होगा। लेकिन उन लोगों में भी अब अक्सर दुविधा ही दिखाई देती है। पर, अपने भद्र समाज में तो हर स्थान पर, हर संदर्भ में विस्मृति और भ्रांति जैसी स्थिति बनी हुई है। सही-गलत का जैसे कोई विवेक ही न बचा हो।

आचार-व्यवहार में सहज विवेक न रख पाने के बहुत-से प्रसंग मिलेंगे। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन देश के बहुत बड़े और विद्वान नेता थे। स्वराज की लड़ाई में उनकी भागीदारी किसी से कम नहीं थी। अहिंसा में उनका अटूट विश्वास था। इसी विचार के और भी बहुत-से लोग रहे होंगे। जीव-हत्या के बारे में सजग रहने की बात तो निश्चित ही बड़ी है, पर अहिंसा केवल जीव-हत्या के निरोध का सिद्धांत तो नहीं है। अहिंसा एक व्यापक जीवन-दृष्टि का अंग है। उस जीवन-दृष्टि के अनुसार अपनी आवश्यकताओं को घटाते जाना और जो घटाई न जा सके, उन सभी आवश्यकताओं को अपने आस-पड़ोस के परिवेश से ही पूरा कर लेना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना जीव-हत्या से बचना। इसीलिए महात्मा गांधी के लिए अहिंसा और स्वदेशी के सिद्धांत एक ही थे।

ग्रामोद्योगों और खादी आदि को बढ़ावा देने के लिए हजारों मील दूर बना विशेष सामान बरतने की जो प्रवृत्ति हमारे कुछ भद्र लोगों में

> “*यह हम किस चक्कर में फंस गए हैं? इस तरह दुनिया की बहती हवाओं के साथ झुक-झुककर हम कहां पहुंचेंगे? हमें इस चक्कर से निकलना है तो अपना कोई स्थिर धरातल खोजना पड़ेगा। अपने चित्त व काल को समझकर, अपने साहित्य की संपूर्णता का अनुमान लगाकर, एक सैद्धांतिक ढांचा हमें बनाना ही पड़ेगा, ताकि सही-गलत के विवेक का कोई आधार हमें मिल पाए। आचरण की, व्यवहार की और रोजमर्रा के विभिन्न संबंधों की कुछ सहज परिभाषाएं हो पाएं। अपने हिसाब से चल निकलने का कोई रास्ता निकल पाए।*”

आजकल चली है वह भी किसी बात के सनातन तत्त्व और समय-सापेक्ष बाह्य स्वरूप में विवेक न कर पाने का ही उदाहरण है। खादी और ग्रामोद्योग आदि तो स्वदेशी के भाव के बाह्य उपकरण मात्र हैं। मूल बात तो समाज की जरूरतों को आस-पड़ोस के साधनों और क्षमताओं के माध्यम से पूरा कर लेने की वृत्ति की है। वह वृत्ति स्वदेशी का तत्त्व है। उस तत्त्व को छोड़ हम केवल उपकरणों की पूजा में लग गए हैं।

पर, ये बातें तो शायद व्यक्तिगत आचरण-भर की हैं। इन बातों में व्यक्तियों से भूल हो जाती होगी। पर, हम तो शिक्षा जैसे सामूहिक विवेक के विषय में भी ऐसे ही भूले हुए दिखते हैं। काफी समय गुजर गया, सारनाथ में एक गोष्ठी हुई थी। उस गोष्ठी में अनेक विद्वान इकट्ठे हुए थे। विश्वविद्यालयों के कुलपति थे, दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर थे, बड़े-बड़े साहित्यकार थे। वे सब शिक्षा के विषय पर विचार करने के लिए वहां पहुंचे थे। सारनाथ में बौद्ध ज्ञान का एक बहुत बड़ा संस्थान है—'तिब्बतन इंस्टीट्यूट'। उसी संस्थान में यह गोष्ठी हो रही थी। संस्थान के निदेशक, सम्धोंग रिन-पो-छे, जो स्वयं बहुत बड़े विद्वान हैं, भी गोष्ठी में बराबर बैठे थे।

गोष्ठी के प्रारंभ में ही यह प्रश्न उठा कि जिसे हम शिक्षा कहते हैं, उसकी कोई परिभाषा है क्या? मैंने ही प्रश्न उठाया कि हम किसे शिक्षा कहते हैं? लिखने-पढ़ने की कला ही शिक्षा है क्या? या कुछ और है? उस समय तो इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिला। पर, बाद में चौथे दिन, गोष्ठी के समाप्त होने से कुछ ही पहले, श्री सम्धोंग रिन-पो-छे से बोलने के लिए कहा गया तो वे इस प्रश्न की ओर मुड़े। उन्होंने कहा कि इस गोष्ठी में चार दिन से जो बातें होती रही हैं, उन्हें मैं तो कुछ समझ नहीं पाया, क्योंकि मैं तो इस 'एजूकेशन' शब्द के अर्थ ही नहीं जानता। वैसे अंग्रेजी मुझे ज्यादा आती भी नहीं। हां, 'शिक्षा' शब्द को तो मैं समझता हूं। और हमारे यहां इस शब्द का अर्थ प्रज्ञा, शील और समाधि के ज्ञान से होता है। इन तीन को जानना शिक्षा है। बाकी जो तकनीकें हैं, भौतिक विज्ञान हैं, शिल्प और कलाएं आदि हैं, वे शिक्षा में नहीं आतीं। वे कुछ दूसरी चीजें हैं। उन्हें हमारे यहां शिक्षा नहीं माना जाता।

शिक्षा की यह परिभाषा यदि सही है, यदि प्रज्ञा, शील और समाधि के ज्ञान को ही अपने यहां शिक्षा माना गया है, तो इसे तो समझना पड़ेगा और यह भी देखना पड़ेगा कि इस दृष्टि से हमारे यहां कितने लोग शिक्षित हैं। हो सकता है, बहुत नहीं हों। हो सकता है केवल आधा प्रतिशत लोग ही प्रज्ञा, शील और समाधि में शिक्षित हों या शायद पांच प्रतिशत तक ऐसे लोग निकल आएं। लेकिन मान लीजिए कि आधा प्रतिशत ही शिक्षा की इस परिभाषा की कसौटी पर शिक्षित निकलते हैं, पर ये आधा प्रतिशत भी बाकी संसार में प्रज्ञा, शील और समाधि को जानने वालों के मुकाबले पांच-दस गुना अधिक बैठते होंगे। शिक्षा की अपनी इस मान्यता के अनुसार हम विश्व के सबसे अधिक शिक्षित लोगों में से होंगे।

या फिर प्रज्ञा, शील और समाधि के ज्ञान को हम शिक्षा नहीं मानते। शायद आचरण और व्यवहार की कला को, जीविका चला पाने की क्षमता को हम शिक्षा मानते हैं। उस दृष्टि से देखें तो भारत के 90-95 प्रतिशत लोग शिक्षित ही निकलेंगे। और भी अधिक हो सकते हैं, पर हो सकता है कि इस दृष्टि से देखने पर हम जैसे पांच प्रतिशत लोग कुछ अशिक्षित ही निकलें। क्योंकि हम जैसों को तो न आचरण आता है, न व्यवहार आता है, न जीविका चलाने की कोई कला आती है।

लेकिन शायद हम आचरण, व्यवहार और काम-धंधे चलाने की क्षमता को भी शिक्षा नहीं मानते। अक्षर-ज्ञान को ही शिक्षा मानते हैं और उस दृष्टि से देखकर पाते हैं कि भारत के 60, 70 या 80 प्रतिशत लोग अशिक्षित ही हैं। लेकिन शिक्षा के माध्यम से कैसा अक्षर-ज्ञान हम लोगों तक पहुंचाना चाहते हैं?

मान लीजिए किसी को खाली भोजपुरी ही लिखनी-पढ़नी आती है। उसे हम शिक्षित मानेंगे या अशिक्षित? शायद वह हमें अशिक्षित ही दिखाई देगा। हम कहेंगे कि भई इसे अक्षर-ज्ञान तो है, पर भोजपुरी का अक्षर-ज्ञान तो कोई अक्षर-ज्ञान न हुआ। इसे तो अच्छी नागरी हिंदी भी नहीं आती। नागरी हिंदी न आए तब तक हम इसे शिक्षित कैसे मान लें?

पर, फिर कोई कहेगा कि खाली नागरी हिंदी से भी क्या होता है, अच्छी संस्कृत आनी चाहिए। कोई और कहेगा कि संस्कृत से भी कैसे चलेगा? अंग्रेजी आनी चाहिए और वह भी शेक्सपीयर वाली ही आनी चाहिए या आक्सफोर्ड में जो अंग्रेजी पढ़ाई जाती है या बीबीसी पर जो बोली जाती है, वही अंग्रेजी आनी चाहिए। फिर कोई कहेगा कि हां, वैसी अंग्रेजी तो इसे आती है। पर अमेरिका में तो यह अंग्रेजी बेकार है। अमेरिका वालों की तो अंग्रेजी ही दूसरी है और आज संसार में जो चल रही है, वह तो अमेरिकी अंग्रेजी है। वह इसे नहीं आती तो इसे अक्षर-ज्ञान तो नहीं हुआ ठीक से। इसे शिक्षित कैसे मान लें?

इस सबके बाद जब हम में से कुछ अमेरिकी अंग्रेजी सीख जाएंगे तो कोई और कहेगा, भई अब तो अमेरिका वालों के दिन भी लद गए। अब तो किसी और के दिन आ रहे हैं। शायद जर्मनी वालों के आ रहे हों या शायद रूसियों के ही आ रहे हों। हो सकता है अफ्रीका वालों में से किसी के दिन आ जाएं या अरबों के ही आ जाएं। तब हम कहेंगे कि उनकी जो भाषा है उसका अक्षर-ज्ञान हो तो हम अपने लोगों को शिक्षित मानेंगे। उसके बिना तो हम सब अशिक्षित ही हैं।

यह हम किस चक्कर में फंस गए हैं? इस तरह दुनिया की बहती हवाओं के साथ झुक-झुककर हम कहां पहुंचेंगे? हमें इस चक्कर से निकलना है तो अपना कोई स्थिर धरातल खोजना पड़ेगा। अपने चित्त व काल को समझकर, अपने साहित्य की संपूर्णता का अनुमान लगाकर, एक सैद्धांतिक ढांचा हमें बनाना ही पड़ेगा, ताकि सही-गलत के विवेक का कोई आधार हमें मिल पाए। आचरण की, व्यवहार की और रोजमर्रा के विभिन्न संबंधों की कुछ सहज परिभाषाएं हो पाएं। अपने हिसाब से चल निकलने का कोई रास्ता निकल पाए।

हो सकता है कि जो सैद्धांतिक ढांचा हम बनाएंगे वह बहुत सही या बहुत टिकाऊ नहीं होगा। शायद पांच-सात साल में ही उसे बदलना पड़े। पर, सैद्धांतिक ढांचे तो सब ऐसे ही होते हैं। ये सब तो व्यक्ति के अपने उपक्रम हैं, सनातन सत्य जैसे तो वे हो नहीं सकते। सैद्धांतिक ढांचे दुरुस्त होते रहते हैं, बदलते रहते हैं। भौतिक विज्ञान के मूल सिद्धांत बदल जाते हैं, राजनीति विज्ञान की मौलिक परिभाषाएं बदल जाती हैं, दर्शनशास्त्र की दिशा बदल जाती है। इस सबमें सनातन तो कुछ नहीं होता। कुछ सनातन यदि होता है, सैद्धांतिक ढांचे के आधार में कुछ मूलभूत सत्य होता है, तो वह सनातन सत्य ढांचे के बदल जाने से प्रभावित नहीं हुआ करता। वह तो रह ही जाता है। पर, संसार के काम अस्थाई, कामचलाऊ सैद्धांतिक ढांचों के आधार पर ही चला करते हैं। वैसा ही एक कामचलाऊ ढांचा हमें अपने चित्त व काल की अपनी समझ का भी बना लेना है।

यह काम हमें स्वयं ही करना पड़ेगा। बाहर वाले आकर हमें ऐसा कोई ढांचा बनाकर नहीं दे सकते, जो हमारे सहज चित्त व काल के अनुरूप बैठता हो। वे चाहते हों तो भी यह काम नहीं कर पाएंगे। यह काम तो यहीं के लोगों के करने का है।

भारत के सनातन सत्य का कोई छोर पकड़ लाने की बात मैं नहीं कर रहा। बात तो कोई ऐसा धरातल तैयार करने की है, जहां खड़े होकर सही प्रश्न पूछे जा सकें। प्रश्न उठने लगेंगे तो उत्तर भी निकलते आएंगे। या शायद उत्तर नहीं मिलेंगे। पर, प्रश्नों के उठने से सही रास्ते का कुछ विवेक तो होने लगेगा। सामान्य आचार-व्यवहार में भ्रांति की स्थिति तो नहीं रहेगी।

मद्रास के श्री शिवरमण तो कहते ही हैं कि प्रश्न पूछते जाना ही भारतीय सत्य-साधना का मूल है। उनका मानना है कि उपनिषदों में उत्तर तो कोई बहुत ठीक नहीं हैं, पर प्रश्न बहुत बड़े हैं। स्मृतियों में भी, उनका कहना है कि प्रश्न बहुत ऊंचे हैं। और फिर अपने सभी प्राचीन ग्रंथों में प्रश्नोत्तर के माध्यम से ही तो सब-कुछ कहा जाता है।

वाल्मीकि रामायण में एक प्रसंग है। रामचंद्रजी जब चित्रकूट से आगे बढ़ते हैं तो रास्ते में खूब अस्त्र-शस्त्रों से लैस होते चले जाते हैं। तब सीता उन्हें कहती हैं कि यह क्या हो गया है आपको? वन में तो ऐसे नहीं रहा जाता। आप तो हिंसा की ओर बढ़ते दिखाई दे रहे हैं। यह तो अच्छा नहीं है। रामचंद्रजी सीता की बात का कुछ जवाब जरूर देते हैं। पर वह कच्चा-सा जवाब होता है। महत्त्व सीताजी के प्रश्न का ही है। उत्तर का नहीं। बात हिंसा-अहिंसा की वृत्तियों पर और उनके सही संदर्भों पर चिंतन करने की है, किसी अंतिम समाधान पर पहुंचने की नहीं।

ऐसे ही नारदपुराण में महर्षि भरद्वाज और भृगु के बीच एक संवाद है। भरद्वाज पूछते हैं कि आपके अनुसार चतुर्वर्ण-व्यवस्था में एक वर्ण दूसरे वर्ण से सर्वथा भिन्न होता है, पर इस भिन्नता का आधार क्या है? टट्टी, पेशाब और पसीना तो सभी को आता है। रक्त, पित्त और कफ आदि भी सभी के शरीर में रचे रहते हैं। फिर उनमें भिन्नता कैसी है? भृगु कहते हैं कि आरंभ में तो सभी एक ही वर्ण के थे। फिर अपने-अपने कर्मों से वे भिन्न होते गए। फिर भरद्वाज पूछते हैं कि कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य या शूद्र कैसे बनता है? भृगु कहते हैं कि कर्मों और गुणों से ही इस प्रश्न का निर्णय होता है। और इस तरह संवाद चलता रहता है।

यहां भी प्रश्न का कोई अंतिम समाधान तो नहीं हुआ, पर समाज-संरचना के बारे में प्रश्न पूछते रहने, इस विषय पर चिंतन करते रहने और समय व संदर्भ के अनुरूप कुछ स्थाई-अस्थाई समाधान निकालते रहने का यह तरीका ही शायद भारतीय तरीका है। इसमें महत्त्व सही-सनातन उत्तर पाने का नहीं, सही-सटीक प्रश्न उठाने का है। प्रश्न उठाते रहने के उस तरीके को हमने कहां खो दिया है? उन बड़े प्रश्नों को उठाना ही हम एक बार फिर शुरू कर दें तो हमारा सहज विवेक लौट आएगा। ❖

सांसारिक-आध्यात्मिक जीवन और शिक्षा

त्सुनेसाबुरो माकीगुची

सांसारिकता और आध्यात्मिकता का अंतर मानव-जीवन पर एक पृथक् परिप्रेक्ष्य देता है। हालांकि यह सही है कि मानवता केवल सांसारिकता के सहारे ही नहीं जीती, लेकिन साधारण मनुष्य के उद्यम के ध्येय जीवनयापन के परे भी नहीं होते। उद्देश्य कितने भी उच्च क्यों न हों, मनुष्य का लक्ष्य होता है एक बेहतर जीवन। ऐसा भी होता है कि लोग ऐसे ध्येयों के लिए काम करें, जिनका जीवनयापन से सीधा संबंध नहीं है, लेकिन वास्तव में यह तब ही संभव है जब जीने की मूलभूत आवश्यकताएं पूरी हो चुकी हों।

यह तो स्पष्ट है कि जीवनयापन की आवश्यकताएं व्यक्ति के आर्थिक वर्ग, पालन-पोषण इत्यादि के सापेक्ष अलग-अलग होती हैं। लेकिन इसमें कोई अनूठापन नहीं है। लक्षण वही रहते हैं, सिर्फ मात्रा का अंतर होता है। आवश्यकताएं आज के जीवनयापन के स्तर के सापेक्ष और अगले स्तर के लिए साधन होती हैं। जैसा कि चीनी दार्शनिक कुआन-त्सु ने बहुत पहले कहा था : 'जब खलिहान भरे हों तो आप व्यवहार और ईमानदारी पर ध्यान दे सकते हैं; जब आपके पास पर्याप्त कपड़े और खाना हो तब आप मान और अपमान के बारे में चिंता कर सकते हैं।' कुआन-त्सु का यह कथन दुनिया-भर पर लागू होता है। उच्च-विचारों का पहला आधार सांसारिक ही है।

किसी भी प्रकार के आध्यात्मिक जीवन के लिए सांसारिक आधार की महत्ता समझने के बाद, हम यह बात जोड़ सकते हैं कि मूल्य जीवन के सापेक्ष होता है। लोग अपने जीवन के मूल्य को जितना गौण समझते हैं, वे उतनी ही अधिक महत्ता सांसारिक वस्तुओं को देते हैं। अपनी आय के गुलाम और कंजूस लोग रुपए-पैसे को भी उतना ही मूल्यवान समझते हैं, जितना अपने जीवन को। वे अपने धन के प्रति उतने ही भयभीत रहते हैं, जितने अपने अस्तित्व के प्रति। अगर वे कभी गंभीर रूप से बीमार पड़ जाएं कि उन्हें अपना सारा संचित धन इलाज पर खर्च करना पड़े, तो वे शायद जीवन के मूल्य के प्रति चेतन हो जाएं। लेकिन जब खतरा टल जाएगा तो फिर वे बहुत ज्यादा काम और धन बटोरने के ढर्रे पर पड़ जाएंगे, यह भूलकर कि वही उनके जीवन को कितना कम कर रहा है।

इसके विपरीत कुछ लोग अपने आदर्शों के लिए अपनी जान

> "*एक और आम गलतफहमी यह भी है कि व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक अस्तित्व में तालमेल होता ही नहीं है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को अलग-अलग देख पाने की कल्पना तो की जा सकती है, मगर दैनिक जीवन में इनमें अंतर देख पाना मुश्किल है। हर व्यक्ति में सैद्धांतिक रूप से तो हम दो अलग-अलग आयाम देख सकते हैं, मगर वे सचमुच में अलग नहीं होते। हर व्यक्ति का एक आयाम है—व्यक्तिगत एवं आध्यात्मिक अस्तित्व। और दूसरा है—भावना, विचार, विश्वास और आदत। लेकिन, ये सब व्यक्ति-विशेष को नहीं, बल्कि उस संगठन या समाज को प्रतिबिंबित करते हैं जिनका वह व्यक्ति एक हिस्सा है। ये सब मिलकर किसी व्यक्ति के सामाजिक अस्तित्व की संरचना करते हैं और शिक्षा का लक्ष्य है कि वे इन्हें हर व्यक्ति में अंगीकार करे। शिक्षा को हर व्यक्ति में यह भावना पैदा करनी चाहिए कि हम अपने जीवनयापन के लिए समाज के कर्जदार हैं।*"

देने को तैयार होते हैं। उदाहरण के लिए ऐसे कलाकार, जो कला की साधना कला के लिए ही करते हैं; जीवन को कला के लिए ही लुटा देते हैं। अगर कोई किशोर या किशोरी प्रेम में असफल रहे तो वह शायद महसूस करने लगे कि जीवन जीने लायक नहीं बचा। इन उदाहरणों में, जीवन का लक्ष्य और लक्ष्य पाने का साधन, दोनों में फेरबदल हो गया है। अमूमन यह फेरबदल अस्थाई होता है और ज्यादा देर नहीं चलता। बहरहाल, यह सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन में किसी पारस्परिक विरोध को तो बिल्कुल ही नहीं दर्शाता।

एक और आम गलतफहमी यह भी है कि व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक अस्तित्व में तालमेल होता ही नहीं है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को अलग-अलग देख पाने की कल्पना तो की जा सकती है, मगर दैनिक जीवन में इनमें अंतर देख पाना मुश्किल है। हर व्यक्ति में सैद्धांतिक रूप से तो हम दो अलग-अलग आयाम देख सकते हैं, मगर वे सचमुच में अलग नहीं होते। हर व्यक्ति का एक आयाम है—व्यक्तिगत एवं आध्यात्मिक अस्तित्व। और दूसरा है—भावना, विचार, विश्वास और आदत। लेकिन, ये सब व्यक्ति-विशेष को नहीं, बल्कि उस संगठन या समाज को प्रतिबिंबित करते हैं जिनका वह व्यक्ति एक हिस्सा है। ये सब मिलकर किसी व्यक्ति के सामाजिक अस्तित्व की संरचना करते हैं और शिक्षा का लक्ष्य है कि वे इन्हें हर व्यक्ति में अंगीकार करे। शिक्षा को हर व्यक्ति में यह भावना पैदा करनी चाहिए कि हम अपने जीवनयापन के लिए समाज के कर्जदार हैं।

इस प्रकार हम सामाजिक चेतना की अनुपस्थिति या उपस्थिति के मापदंडों पर, दो बिल्कुल अलग-अलग तरह के जीवन लक्षणों को केंद्रित देख सकते हैं। ये हैं—

1. सांसारिक और आत्मतुष्टि पर केंद्रित व्यक्तिगत जीवन।

2. सामूहिक व आध्यात्मिक उत्थान पर केंद्रित सामाजिक जीवन।

जीवन के ये दो स्वरूप, जो साधन और साध्य में एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत हैं, आधुनिक समाज में प्रत्यक्ष हैं। स्पष्ट है कि शिक्षा को दूसरे स्वरूप को प्रचारित करना चाहिए।

सहकारी और प्रतियोगी जीवन

स्व-केंद्रित, अचेतन जीवन व्यक्तिगत और सांसारिक संचय पर जोर देता है, तो दूसरी ओर, समाज-केंद्रित, चेतन जीवन पूरे समुदाय की आध्यात्मिक संपन्नता पर। यह एहसास हमें समझ पाने में मदद कर सकता है कि मानव जीवन में हार्दिक सहयोग और जबरदस्त होड़, दोनों, का अस्तित्व होता है। बहुत समय तक यह बात मुझे अपनी समझ के बाहर लगी। ऐसा कैसे हो सकता है कि वही गतिविधियां और संबंध एक तरफ तो सुखद पारस्परिक निर्भरता और मिल-बांटने के एहसास जगाएं और दूसरी तरफ अविश्वास और लालच से उपजे बदनुमा जुल्म? दशकों के गंभीर चिंतन के बाद मैं इस सहज निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि जहां प्रतियोगी जीवन व्यक्तिगत चेतना से जुड़ा है, वहीं सामाजिक चेतना उदय होने के साथ सहकारी जीवन का पदार्पण होता है। जब तक मनुष्य सिर्फ अपने बारे में ही सोचेगा, नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं होगा। सहकारी और सद्भावपूर्ण नैतिक जीवन का मतलब तब ही समझ में आएगा जब पहले लोग दूसरों की जरूरतों को समझने की कोशिश करेंगे। यानी, जब उनमें हर जीवन में समाज के अर्थ और महत्त्व का एहसास जग चुका होगा। अगर ऐसा नहीं हुआ है तो उपदेश देने का कोई लाभ नहीं होगा। यद्यपि एक स्वकेंद्रित व्यक्ति अचेतन जीवनयापन करता हुआ नैतिक व्यवहार का आवरण ओढ़ सकता है, लेकिन दिल-ही-दिल में उस व्यक्ति के अनुभव कड़वे और परस्पर संघर्षरत होंगे। अपने-आप में ही उलझे रहना अब भी दुनिया का चलन है। सहकारिता के भुलावे में रहकर भी हम सिर्फ जिंदा रह पाने की लड़ाई के दृश्यों से बच नहीं सकते।

सहकारी जीवन तब ही विकसित हो सकता है जब हर व्यक्ति खुद अपनी कमियों और क्षमताओं को उतनी ही अच्छी तरह आंक पाए, जितनी दूसरों की कमियों और क्षमताओं को। पारस्परिक कमियों और क्षमताओं को समझ पाने पर ही प्रयत्नों का ऐसे रूप में एकजुट हो पाना संभव है कि सभी लाभान्वित हो पाएं। पारस्परिक संबंधों के लाभ समझ पाने पर ही, समुदाय के सदस्य ऐसे स्थाई विश्वास की नीवं डाल सकते हैं जिस पर पूर्ण सहकारिता रचने की संभावना बंने।

अगर शिक्षा को यह कार्य करना है कि वह एक-दूसरे से होड़ में लगे हुए लोगों में सहकारी जीवन के लाभों का मूल्य समझने और सराहने की भावना पैदा करे तो उसे विद्यार्थियों में पारस्परिक सामाजिक चेतना को जगाना होगा। इस तरह के सामाजिक जीवन के बीजारोपण के लिए स्कूल एक आदर्श प्रांगण है।

श्रम-विभाजन जीवन के स्वरूप में

अगर हम जीवन में उसके श्रम-विभाजन के स्वरूप पर विचार करें तो हम इस काम की प्रकृति को और उसे कार्यान्वित करने में स्कूल की भूमिका को अच्छी तरह समझ सकते हैं। समाजशास्त्री मनुष्य के सामाजिक व्यवहार को, समुदाय में प्रेक्षित श्रम के विभिन्न विभाजनों के अनुसार बांटते हैं। इनमें से एक वर्गीकरण निम्नलिखित है :

1. राजनीतिक गतिविधि
2. आर्थिक गतिविधि
3. सांस्कृतिक गतिविधि

अन्य संभव वर्गीकरण में ये गतिविधियां भी शामिल हो सकती हैं : कानूनी, नैतिक, धार्मिक, रूढ़िवादी, तकनीकी, कलात्मक, शिक्षा-संबंधी इत्यादि। लेकिन ये सब भी उपर्युक्त तीन वर्गों के ही हिस्से हैं :

1. राजनीतिक गतिविधि : संसदीय, प्रशासकीय, न्यायिक;

2. आर्थिक गतिविधि : उपज, विनिमय, वितरण, उपभोक्ता;

3. सांस्कृतिक गतिविधि : रूढ़िवादी, कलात्मक, धार्मिक, शिक्षा-संबंधी।

आर्थिक गतिविधि राजनीतिक गतिविधि का आधार है और ये दोनों मिलकर सांस्कृतिक गतिविधियों की नीवं डालती हैं। लेकिन हमारे जीवन के स्वरूपों की व्याख्या में इन गतिविधियों का स्थान कहां है? अब तक हमने चेतना-स्तर के अनुक्रम में तीन तरह के मानव-व्यवहार को स्थापित किया है :

1. अचेतन व्यवहार;
2. चेतन व्यवहार;
3. आत्म-बोधित व्यवहार (व्यक्तिगत चेतन जीवन और सामाजिक चेतन जीवन)।

इन्हें व्यक्ति-विशेष की चेतना के अंतर्गत घटना-क्रिया-विज्ञान से उद्धृत किया गया है। जब हम इस स्थिति का बाहर से अवलोकन करते हैं तो एक बिल्कुल अलग छवि उभरती है। अगर जीवन के इन वर्गों को उनकी वस्तुपरक जड़ों में जाकर देखा जाए तो हमें मनुष्य की गतिविधियों में ही प्रबल धारे दिखाई देते हैं। उदाहरण के तौर पर कानून वैध और अवैध आंकने के लिए निवारक और दंडात्मक कसौटी है। सरकार अवैध से वैध की लड़ाई का साधन है, यानी दूसरे शब्दों में यह वह साधन है जिसके जरिए पूरा समाज कुछ बुरे लोगों को सत्ता के अवैध उपयोग से रोकता-टोकता है। शिक्षा और सांस्कृतिक उन्नति सुसंगत व्यवस्था को बढ़ावा देती हैं।

मनुष्य समाज में आंखें खोलता है। हर मनुष्य को यथासंभव सर्वश्रेष्ठ सेवाएं समाज में सबके भले के लिए अर्पित करनी चाहिए। कोई अलग जिंदा नहीं रहता; कोई काम अपने आस-पास के लोगों की जरूरतों से परे पैदा नहीं होता। पारस्परिकता की सुसंगत व्यवस्था में हर व्यक्ति, हर श्रम एक संपूर्ण का अंश होता है। जहां तक एक व्यक्ति का सवाल है, केवल शारीरिक और मनोवैज्ञानिक जीवन-साधन पर्याप्त हो सकते हैं। लेकिन सहकारी जीवन में प्रवेश के लिए इन व्यक्तिगत साधनों को एक अधिक व्याप्त और साझे जीवन की पूर्ति के लिए अर्पित करना होता है। स्पष्ट है कि ये अनगिनत साधन व्यक्ति-विशेष की अनूठी क्षमताओं और सामाजिक वातावरण में विशेष लक्षणों के परिप्रेक्ष्य में बदलते रहते हैं। वस्तुतया, मनुष्य की गतिविधियों की विभिन्नता सामाजिक जीवन में सहयोगी विभिन्न श्रेणियों में विभाजित हो जाती है। इन सामान्य शीर्षकों के अंतर्गत व्यावसायिक विशेषताएं पदार्पण करती हैं। हम पाते हैं कि मानव जीवन में ये गतिविधियां जिस क्रम में होती हैं, वह यह है :

1. निर्भरता का जीवन : अन्य लोगों के प्रयास के भागी, बिना स्वयं को जाने-पहचाने।

2. स्वावलंबिक जीवन : अपने प्रयास से, स्वचेतना और परिभाषित निजीपन के साथ।

3. सहयोगी जीवन : अपने प्रयत्नों को दूसरों के लिए जुटाकर, स्वयं की एक व्यापक चेतना और स्वयं की सार्वजनिक परिभाषा के साथ।

या, ऊर्जा-व्यय के आधार पर :

1. निर्भरता का जीवन :

लाभकारी जीवन : आम साधनों की सहायता से जीवनयापन। भिक्षा से जीवनयापन। लूट-खसोट का जीवन : हिंसा से जीवनयापन। चालबाजी से जीवनयापन।

2. विनिमय का जीवन :

आर्थिक जीवन; राजनीतिक जीवन; सांस्कृतिक जीवन।

3. सहयोगी जीवन :

अमूमन लोग संपूर्ण समाज की सीमा में ही जीते हैं। जब किसी को यह अनुभव होता है कि समाज में किसी

अवयव की कमी है, यह कमी समाज के लिए समस्याकारक है और फिर वह उस कमी को पूरा करने के लिए काम करता है, तो प्रत्यक्ष है कि लोकजन उसका स्वागत करते हैं। उदाहरण के तौर पर अगर कोई नया आविष्कार करता है या बाजार में नया माल लाता है, तो लोग उसका स्वागत भी करते हैं और खुशी-खुशी इस्तेमाल भी। जब काफी लाभ की उम्मीद हो तो कोई नया उद्योग स्थापित करके उससे जीविका कमाएगा। लोगों से अलग-अलग संपर्क करने के बजाय, वह लोगों में विज्ञापन करेगा और आशा करेगा कि वे उचित मूल्य देंगे। यह दूसरे वर्ग का एक आम उदाहरण है और इसको विनिमय के जीवन की संज्ञा दी जा सकती है।

इसके विपरीत पहला वर्ग (निर्भरता) और तीसरा वर्ग (सहकारी-सहयोगी) अचेतन विनिमय के जीवन हैं। पहले वर्ग में, पाने की चेतना तो होती है, लेकिन बदले में कुछ देने की भावना नहीं। तीसरे वर्ग में, समाज को कुछ देने की चिंता सर्वोपरि होती है, लेकिन बदले में किसी प्रतिफल की अपेक्षा नहीं होती। सहयोगी जीवनयापन करता हुआ व्यक्ति संपूर्ण समाज की संपन्नता और सुख के लिए प्रयत्न करता है, प्रतिफल की चेतन अपेक्षा के बिना। इस तरह वे लोग, जो स्वयं अपने जीवन पर ध्यान दिए बिना समाज में योगदान देते हैं, उन्हें समाज में इज्जत मिलती है। चाहे उन्हें उसके लिए अनुकूल वित्त साधन का योग न मिले। लेकिन किसी-न-किसी रूप में उन्हें अपने प्रयत्नों का प्रतिफल मिलता है, जो दुनिया में उनका अस्तित्व बने रहने का आश्वासन देता है।

सार यह है कि इस पूरे वर्गीकरण के दो अंश हैं : सांसारिकता का सांसारिक से विनिमय और सांसारिक का आध्यात्मिकता से विनिमय। क्योंकि समाज का हर अवयव आकाशीय और सांसारिक रूप में एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है, इसलिए एक अवयव दूसरे से नितांत एकाकीपन में अलग रह भी नहीं सकता—यानी, बिना किसी आदान-प्रदान के। इसलिए समाज में व्यवहार के अलग-अलग रूप इस तरह देखे जाते हैं : भौतिक और भौतिक का विनिमय, भौतिक और अभौतिक का विनिमय और अभौतिक और अभौतिक का विनिमय। इन्हें चेतन विनिमय और अचेतन विनिमय या फिर प्रत्यक्ष विनिमय और अप्रत्यक्ष विनिमय के प्रकारों में देखा जा सकता है।

अपनी मां की छाती से चिपके हुए उस छोटे-से शिशु का उदाहरण लेते हैं जिसके पास विकास के अलावा और कोई शक्ति नहीं है। वह नन्ही-सी जान भी मां-बाप के बीच प्रेम बढ़ाने का कारण बन सकती है और इस तरह पारिवारिक रहन-सहन और संपन्नता में सहयोग देती है। इसलिए, एक नन्हे शिशु के जीवन को भी पूरी तौर पर सहारे पर निर्भर जीवन नहीं कहा जा सकता।

इन विचारों के चलते ऐसा आभास होता है कि उपर्युक्त वर्गीकरण विशिष्टता या श्रम-विभाजन को कम, बल्कि सहयोग की किस्मों को ज्यादा दर्शाता है। दूसरे शब्दों में, अगर श्रम-विभाजन समाज का स्थिर वर्गीकरण है तो सहयोग की इन किस्मों को विकासशील वर्गीकरण की संज्ञा दी जा सकती है।

अगर हम उपर्युक्त अवयवों को पहले साथ-साथ ऐसे मिलाएं कि सहयोग की किस्मों को सामाजिक विनिमय के स्वरूप में देखें और फिर उस स्वरूप को अपने स्वयं को पा लेने की खोज के संदर्भ में देखें, तब मानव-व्यवहार का निम्नलिखित वर्गीकरण उभरता है :

1. असामाजिक पारस्परिक क्रिया : अंध-जीवन, पराश्रयी और स्व-चेतना के बिना।

2. सामाजिकाभासी पारस्परिक क्रिया : धुंधला जीवन, स्वतंत्र और आंशिक चेतनामय व्यक्तित्व।

3. पूर्ण सामाजिक पारस्परिक क्रिया : ज्ञानोदित जीवन, संपूर्ण स्वचेतनामय, अग्रणी या सहयोगी के स्वरूप।

वातावरण के सापेक्ष जीवन के रूप

हमें अब तक यह एहसास हो जाना चाहिए कि काफी हद तक मानव जीवन लोगों और उनके वातावरण के बीच चेतन शारीरिकता एवं मानसिकता की पारस्परिक क्रिया का ही नाम है। इसलिए यह उपयोगी रहेगा कि जीवन को हम गतिविधियों के चार विलग धरातलों में विभाजित करें :

गतिविधि का धरातल	**संबंध**	**संचालन विधान**
1. प्रकृति	आश्रय सुसंगति, द्वंद्व, विजय	भौतिक विधान
2. व्यक्ति	द्वंद्व, सहयोग सामाजिक विधान (सरकारी एवं निजी)	मनोवैज्ञानिक सिद्धांत, राजनीति, अर्थ
3. समाज	सहयोग	आचारशास्त्र, नैतिकता, सामाजिक रीति-रिवाज
4. विश्व	कारण और प्रभाव	कारणात्मक विज्ञान

प्रकृति की तरफ हमारा पहला रवैया यह समझने का होना चाहिए कि हम प्राकृतिक जीव हैं और भौतिक विधान से संचालित हैं। लेकिन क्या हम केवल 'प्राकृतिक मार्ग' पर ही चलते हैं? या हमारा रवैया यह होता है कि हम प्रकृति पर विजय पाएं? एक तीसरी संभावना है : संतुलन एवं प्रकृति की सुसंगति के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ उठाने की। एक हद तक हम प्रकृति को पालतू भी बना सकते हैं, सभी लाभों से लाभान्वित और विजय की कठिनाइयों से अप्रभावित। वातावरण और अपने बीच एक शांत, बौद्धिक पारस्परिक क्रिया प्रकृति से इस संबंध का गुर है।

अपनी बराबरी के लोगों के संबंध में हम एहसास और भावनाओं को उजागर करते हैं। लेकिन हम और ये संबंध वस्तुपरक भी हैं, इसलिए हम अपने लिए एक विशेष, मगर संबद्ध स्थान या पहचान भी बनाना चाहते हैं। इसके लिए जरूरत है स्वेच्छा से अपने स्वयं का स्वामी होने की। अपने बारे में मनन से हम उन सिद्धांतों तक पहुंचते हैं जिनसे हमारा अस्तित्व संचालित है। अपने कर्मों का इन सिद्धांतों से तालमेल करके हम एक ऐसा जीवन बना सकते हैं जिसमें दूसरों के साथ सहानुभूतिपूर्ण सहभागिता हो। अन्य व्यक्ति एवं स्वयं हम भी इस स्थिति में सुरक्षा के उच्च ध्येयों के प्रति अंधे हैं, लेकिन फिर भी कुछ समरूपताएं मिलती हैं। न्यायपूर्ण रुख, विनिमय मूल्य, स्वलाभ और परलाभ—यानी हमारी राजनीतिक और आर्थिक जीविका के आधार पारस्परिक रूप में व्याप्त होते हैं।

जब हम अपने-आप को ऐसे समाज के हिस्से के रूप में देखते हैं जो सदस्यों के योग-मात्र से अधिक विशाल है और जब अपने जीवन को इस विशाल एकता से जोड़ते हैं, तो हम आचार-संहिता के समक्ष होते हैं। अब से सामूहिक सामाजिक रीति-रिवाजों के प्रति हमारा रवैया या तो चेतन को चुनौती देने या मानने का होना चाहिए।

जब जीवन-मृत्यु को लेकर मूलभूत प्रश्नों से हम आमुख होते हैं, तब ज्ञान-सीमाओं से परे विशाल ब्रह्मांड के सामने हम बहुत छोटे हो जाते हैं। सृष्टि की संपूर्णता में सब असहाय कण-मात्र हैं, वे चाहे संत हों, विद्वान हों, हमारे आदर्श नायक हों या हमारी सृजक-क्षमताएं हों। हालांकि वस्तुतया हम अपने सामाजिक अस्तित्व को इस चेतना के अंतर्गत देख सकते हैं, मगर इस मापक में अपने सूक्ष्म जीवन को आंकने के लिए हमें धर्म के सहारे की आवश्यकता पड़ेगी। इस तरह हम धर्म और नैतिकता के संबंध सूत्र को पा सकते हैं। ❖

अनुवाद : **अशोकलाल**

आज संस्कृति और जीवन दोनों में एक ध्रुवण चल रहा है। वह यह है कि गांवों में शहरी संस्कृति प्रवेश कर रही है। औद्योगिक प्रगति और शहरी संस्कृति, दोनों का दायरा विस्तृत होता जा रहा है। फलतः गांवों का मन बदल रहा है। उनके संस्कार बदल रहे हैं। जहां तक गांवों के शहरीकरण का प्रश्न है, एक हद-विशेष तक मैं इसे शुभ का आरोहण मानता हूं। गांव कूड़े-कचरे और अज्ञान के ढेर बन गए हैं। गंदगी, असभ्यता और अज्ञान को कथित ठेकेदारों ने धर्म और संस्कृति कहकर शताब्दियों तक बेचा है। अतः कुसंस्कारों और विकृतियों को यदि हम शहरीकरण के माध्यम से दूर कर दें, तो यह शुभ है। परंतु इस प्रक्रिया में कुछ प्राणवान तत्त्व भी नष्ट हो रहे हैं—ग्रामों की रागात्मक संस्कृति, इनके गीत-नृत्य, इनके उल्लास और भ्रातृत्व के साधन। नई नगर-संस्कृति में सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें वह स्थाइत्व या अंतर्बल नहीं, जो ग्रामजीवन को समेटकर एक में बांधे रहे और उसे टिकाऊपन दे सके। नई नगर-संस्कृति प्रगतिशील है अर्थात् निरंतर काल के दबाव में पड़कर परिवर्तित होती रहती है। ग्रामों के माध्यम से ही हम हिंदुस्तान के व्यक्तित्व की, उसकी निजी सनातन अस्मिता की रक्षा कर सकते हैं। और यदि हिंदुस्तानी मन को जिंदा रखना है तो लोक-संस्कृति के इन प्राणवान साधनों को बचाए रखना होगा तथा इन्हें नए-नए संस्कार देकर निरंतर युगानुरूप करते रहना होगा।

—कुबेरनाथ राय

अनुभूति

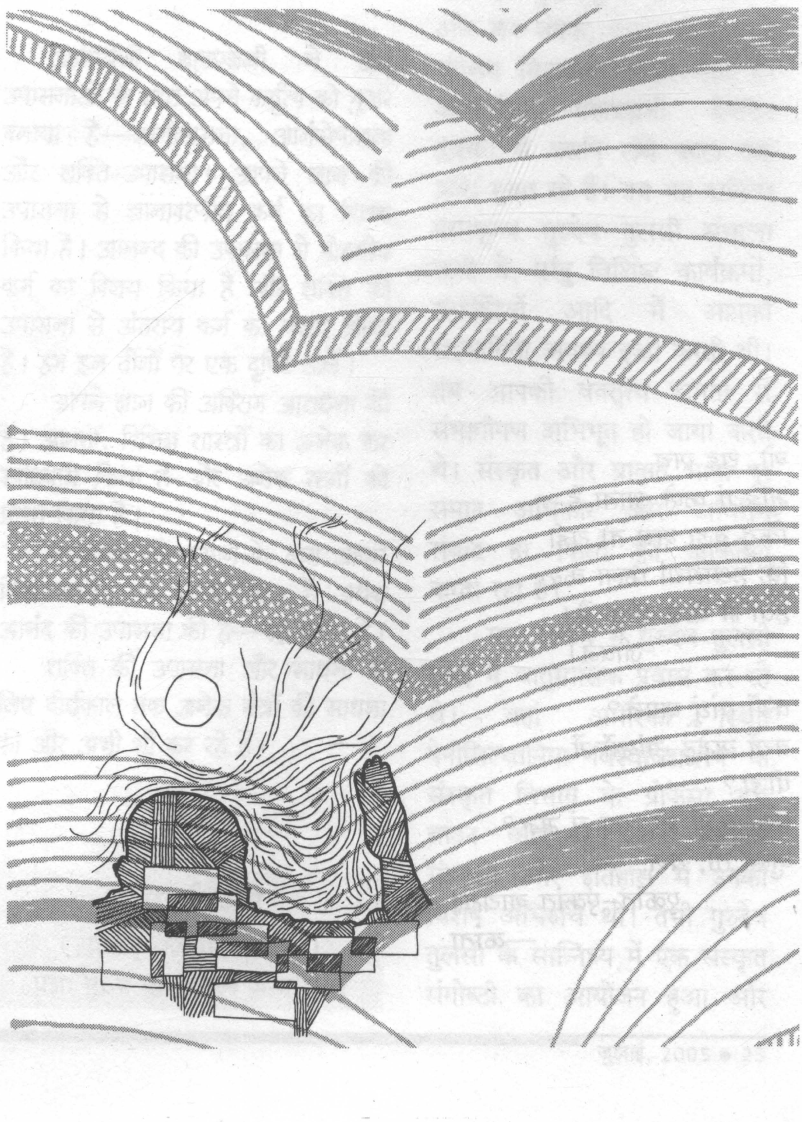

गो, यह सच,
मुट्ठियां कसे आता है
किंतु बड़ा सच तो यही
कि हथेलियां फैला कर
हवा में फैल जाता है।
जीवन।

क्यों बांधूं सपने?
क्यों समेटूं आंखों में
पीड़ा?
क्यों कहीं भी लुटा लूं मन?
सुख तो, बस,
एकांत-एकांत गायन!
—कांता

महात्मा महाप्रज्ञ : वक्तृत्व और कर्तृत्व

❑ युवाचार्यश्री महाश्रमण ❑

हर प्राणी जीवन जीता है, पर जीने-जीने में अंतर होता है। कहा गया कि हिमालय पर्वत से नीचे की ओर लुढ़कने वाले पत्थरों में से कुछ पत्थर पूर्व की ओर चले जाते हैं और कुछ पश्चिम की ओर। पूर्व दिशा की ओर जाने वाले पत्थर गंगा आदि नदियों में जा गिरते हैं। वे इतने चिकने, सुंदर और सौम्य रूप प्राप्त कर लेते हैं कि पूजा की तरह प्रतिष्ठित हो जाते हैं। जो पत्थर पश्चिम की ओर लुढ़कते हैं, वे चूर-चूर होकर रेत बन जाते हैं।

मनुष्य की भी दो श्रेणियां कही जा सकती हैं। एक श्रेणी के मनुष्य रेत बनने वाले पत्थरों की भांति अपने जीवन की निरर्थकता हेतु अभिशप्त होते हैं और दूसरी श्रेणी के मनुष्य गरिमामय व्यक्तित्व के धनी कहला कर अनेक जनों के आदर और आदर्श रूप बन जाते हैं। न मालूम कितनों को उनके जीवन से बोधपाठ मिलता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का जीवन इसी तरह के व्यक्तित्वों में से एक आदर्श जीवन है। आपके गरिमामय व्यक्तित्व के अनेक फलक हैं, पर प्रमुखतः दो पर यहां संक्षिप्त दृष्टिपात किया जा रहा है, ये हैं—वक्तृत्व और कर्तृत्व।

"*आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने तीन उपासनाओं के द्वारा अपने कर्तृत्व को मुखर बनाया है—ज्ञानोपासना, आनंदोपासना और शक्ति-उपासना। आपने ज्ञान की उपासना से ज्ञानावरणीय कर्म का विलय किया है। आनन्द की उपासना से मोहनीय कर्म का विलय किया है और शक्ति की उपासना से अंतराय कर्म का विलय किया है। हम इन तीनों पर एक दृष्टि डालें।*

आपने ज्ञान की अविराम आराधना की है। आगमों, विभिन्न शास्त्रों का अनेक बार स्वाध्याय किया है और अनेक रत्नों को प्राप्त किया है।

स्वाध्याय और ध्यान के द्वारा आपने जिस आनंद को प्राप्त किया है अथवा आनंद की उपासना की है—वह दुर्लभ है।

शक्ति की उपासना और साधना के लिए दीर्घकाल तक अनेक मंत्रों की साधना की और अभी भी कर रहे हैं।"

प्रज्ञा दिवस
(आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी)
प्रज्ञा पुरुष का पावन जन्मोत्सव

वक्तृत्व :

कुछ साधु-संत जन-संपर्क से प्रायः मुक्त रहते हैं। अपनी व्यक्तिगत साधना में ही वे लीन रहते हैं। कुछ मुनि अपनी साधना और जन-संपर्क, दोनों, में अद्‌भुत संतुलन बिठाकर अग्रसर होते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी दैनंदिन प्रवचन से यद्यपि लंबे काल तक प्रायः मुक्त रहे हैं। तब यह दायित्व परमपूज्य गुरुदेव तुलसी संभाला करते थे, परंतु विशिष्ट कार्यक्रमों, संगोष्ठियों आदि में आपकी सहभागिता अवश्य हुआ करती थी। तब आपकी वक्तृत्व क्षमता से संभागीगण अभिभूत हो जाया करते थे। संस्कृत और प्राकृत भाषा पर समान अधिकार और अविराम संवाद हर किसी को आकर्षित करता रहा है।

सन् 1954 में गुरुदेव तुलसी मुंबई में चातुर्मासिक प्रवास कर रहे थे। वहां अमेरिका स्थित पेनीसिल्वानिया विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रोफेसर डॉ. ब्राउन आए हुए थे। भारतीय संस्कृति और इतिहास में उनकी विशेष अभिरुचि थी। तभी गुरुदेव तुलसी के सान्निध्य में एक संस्कृत संगोष्ठी का आयोजन हुआ और

डॉ. ब्राउन उसमें उपस्थित थे। श्री छगनलालजी शास्त्री ने तब तेरापंथ धर्मसंघ में चल रही संस्कृत अध्ययन की गतिविधियों का परिचय दिया। उसी समय मुनि श्री चौथमलजी ने नव-रचित संस्कृत व्याकरण 'भिक्षुशब्दानुशासनम्' का परिचय दिया। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी तब मुनिश्री नथमलजी थे और प्राकृत व्याकरण 'तुलसी मंजरी' के बारे में उन्होंने जानकारी दी।

प्राकृत भाषा में अपनी रुचि प्रकट करते हुए डॉ. ब्राउन ने प्राकृत भाषा में भाषण प्रस्तुत करने का अनुरोध किया। मुनिश्री नथमलजी ने इस अनुरोध को स्वीकार किया और प्राकृत भाषा में धारा-प्रवाह वक्तव्य दिया। डॉ. ब्राउन द्वारा प्रदत्त 'कल्पसूत्र का रहस्य' विषय पर आपने इंद्रवज्रा, उपेंद्रवज्रा, उपजाति और शार्दूलविक्रीड़ित छंदों में आशु कविताएं भी कीं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी (तत्समय मुनिश्री नथमलजी) के धारा-प्रवाह भाषण और आशुकविता को सुनकर सभी मंत्रमुग्ध हो गए। डॉ. ब्राउन ने तो कहा—'मेरे जीवन का यह पहला प्रसंग है, जब मैंने प्राकृत में धाराप्रवाह भाषण सुना। जो आशुकविता मुनिश्री ने की है, वह तो प्रतिभा के उच्चतम विकास की प्रतीक है। मुझे यदि अंग्रेजी में ऐसा करने के लिए कहा जाए तो मैं नहीं कर सकता। मैं इस अनुकरणीय विद्याराधना से प्रभावित हुआ हूं।'

दर्शन में आपका गंभीर अध्ययन किससे छिपा है। उसका प्रभाव भी आपके वक्तृत्व पर सांगोपांग पड़ा है। एक समय में गूढ़ दार्शनिक भाषा आपके वक्तृत्व की पहचान बन गई थी। जब आपका वैदुष्यपूर्ण गूढ़ वक्तव्य होता तो आम जनता की उसमें अल्पांश रुचि ही रहती थी। अनेक बार लोग उठने की मुद्रा में हो जाते अथवा नींद लेते नजर आते। यह सब देख गुरुदेव तुलसी ने एक दिन कहा—'तुम दर्शन की अपनी भाषा को कुछ सरसता और सामान्य स्तर पर लाओ ताकि आम जनता भी उसे समझ सके।' इस इंगित अथवा निर्देश के पश्चात की स्थिति का चित्रण करते हुए स्वयं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी लिखते हैं—'मेरी नई यात्रा शुरू हुई। मैंने गूढ़ दर्शन की भाषा के साथ सरस कहानी की विधा को भी जोड़ दिया। केवल कहानी विधा ही नहीं, दर्शन की भाषा को भी कहानी की भाषा में कहना शुरू कर दिया। थोड़े समय बाद ही कुछ ऐसा हुआ कि लोग मुझे सुनने की मुद्रा में बैठने लगे। फिर तो दर्शन की गंभीर चर्चा भी कहानी के रूप में सुनने लगे। पहले मैं कुछेक विचारकों के काम आता था, अब जन-साधारण के काम का हो गया हूं, ऐसा मैं सोचता हूं।'

आचार्यप्रवर के प्रवचन से अनेकशः लोग लाभान्वित हुए हैं। दूरदर्शन पर आपके प्रवचनों का प्रसारण होने से दूरस्थ लोगों के लिए भी वह सुलभ हो गया है। मेरी दृष्टि में आपकी प्रवचन-शैली में भाषा स्पष्ट और शुद्ध है, भाषा में सहज माधुर्य है, भाषा में आरोह-अवरोह प्रायः नहीं होता है। आपकी वक्तृत्व शैली प्रायः लयबद्ध चलती है। इसी तरह छोटी-छोटी कहानियों, घटनाओं का प्रयोग प्रचुरता से होता है। कभी-कभी कुछ कहानियों को कुछ दिनों के अंतराल से ही पुनरावृत्त होने का अवसर मिल जाता है। उपस्थित परिषद के अनुरूप विचार सामग्री प्रदान की जाती है। वर्तमान युग की समस्याओं पर भी श्रोताओं का ध्यान प्रमुखतः आकृष्ट किया जाता है। साथ ही साथ समस्याओं के संदर्भ में धर्म की उपयोगिता की विवेचना तार्किक रूप में की जाती है जो हर वर्ग के लिए सर्वग्राह्य सिद्ध होती है। इसी के साथ बौद्धिक लोगों को भी आपका प्रवचन सारगर्भित खुराक देने वाला होता है। साधारण जन को भी पूरा पोषण प्राप्त होता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आचार्यवर का प्रवचन प्रायः हर एक जन-मन को आकृष्ट एवं प्रभावित करने वाला होता है।

कर्तृत्व

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने तीन उपासनाओं के द्वारा अपने कर्तृत्व को मुखर बनाया है—ज्ञानोपासना, आनंदोपासना और शक्ति-उपासना। आपने ज्ञान की उपासना से ज्ञानावरणीय कर्म का विलय किया है। आनन्द की उपासना से मोहनीय कर्म का विलय किया है और शक्ति की उपासना से अंतराय कर्म का विलय किया है। हम इन तीनों पर एक दृष्टि डालें।

ज्ञानोपासना—आपने ज्ञान की अविराम आराधना की है। आगमों, विभिन्न शास्त्रों का अनेक बार स्वाध्याय किया है और अनेक रत्नों को प्राप्त किया है। श्रीमद् जयाचार्य आगम-स्वाध्याय करते और जब-कभी उन्हें कोई बात नई मिलती तो वे अपने उत्तराधिकारी मुनिश्री मघराजजी से कहते—'मघजी! आज एक नया रत्न मिला है।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने विरासत में प्राप्त रत्नों और स्वयं द्वारा हासिल किए गए रत्नों को सहेजकर ही नहीं रखा, उन्हें भरपूर बांटने का निरंतर यत्न भी करते जा रहे हैं।

आपने सैकड़ों पुस्तकों का निर्माण किया है और आप के साहित्य ने प्रबुद्ध जनमानस को गहराई तक प्रभावित किया है। ऐसे अनेक प्रसंग स्मरण हो रहे हैं।

आनंदोपासना—स्वाध्याय और ध्यान के द्वारा आपने जिस आनंद को प्राप्त किया है अथवा आनंद की उपासना की है—वह दुर्लभ है। गुरुदेवश्री तुलसी की प्रेरणा से आपने जैन योग पर वर्षों अनुसंधान किया। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की अनेक महत्त्वपूर्ण शाखा-प्रशाखाओं से अनुस्यूत कर 'प्रेक्षाध्यान' पद्धति के नाम से उसे प्रस्तुत किया। आपके इस अनुसंधान से धर्म का प्रायोगिक स्वरूप प्रकट हुआ है। आज के तनावग्रस्त और अशांत मानव समाज के लिए यह पद्धति उपयोगी सिद्ध हो रही है। शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शांति, भावशुद्धि, आध्यात्मिक विकास आदि विभिन्न स्तरों पर हजारों-हजारों लोग इस साधना पद्धति को अपनाकर लाभान्वित हो रहे हैं। आपने सिद्धांत और प्रयोग, दोनों, पर बल दिया। प्रयोगहीन सिद्धांत या सिद्धांतहीन प्रयोग लक्ष्य तक नहीं पहुंचाता। प्रयोगों के माध्यम से आपने अध्यात्म के बीजों को अंकुरित होने का अवसर दिया है और मानवीय चेतना को जाग्रत किया है। आपकी दिनचर्या में स्वाध्याय और ध्यान को प्रमुख रूप से देखा जा सकता है।

शक्ति-उपासना—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने शक्ति की उपासना और साधना के लिए दीर्घकाल तक अनेक मंत्रों की साधना की और अभी भी कर रहे हैं। जीवन में शक्ति का बहुत महत्त्व होता है। शक्तिशाली व्यक्ति ही दुनिया को कुछ दे सकता है, उसका भला कर सकता है और जनता से अपनत्व प्राप्त कर सकता है। शक्ति की उपासना सर्वत्र और सबको काम्य होती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के बहुमुखी कर्तृत्व का गुरुदेवश्री तुलसी ने समय-समय पर मूल्यांकन किया है। इस शृंखला में सन् 1940 में आपको अग्रगण्य नियुक्त किया। सन् 1944 में आपको साझपति बनाया। सन् 1966 में 'निकाय सचिव' के महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया। सन् 1978 में आपको 'महाप्रज्ञ' अलंकरण से सम्मानित किया। सन् 1979 में आपको अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया।

सन् 1986 में आपको 'जैनयोग के पुनरुद्धारक' संबोधन से संबोधित किया गया। इस अवसर पर गुरुदेवश्री तुलसी ने कहा—'मेरे जीवन की अनेक उपलब्धियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है कि मैंने एक योग्य और योग्यतर ही नहीं, योग्यतम उत्तराधिकारी को पाया है।' सन् 1994 में तेरापंथ की प्रचलित परंपरा से हटकर गुरुदेवश्री तुलसी ने अप्रत्याशित रूप से अपने आचार्य पद का विसर्जन करते हुए आपको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर सबको हतप्रभ कर दिया।

आपकी यह अविराम यात्रा आपके कर्तृत्व में उत्तरोत्तर विकास और निखार के मूल्यांकन की यात्रा भी है। संयम-पर्याय के पचहत्तर वर्ष तथा जीवनकाल के 86वें वर्ष में प्रवेश के उपलक्ष्य में यह मंगल-कामना स्वाभाविक ही है कि आपके वक्तृत्व और कर्तृत्व से जन-जन को दिशाबोध मिलता रहे। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

“

भिक्षु विचार दर्शन : धर्म-अध्यात्म की सही समझ

साध्वी कनकश्री

तेरापंथ धर्मसंघ के आदि-प्रणेता आचार्यश्री भिक्षु एक क्रांतिकारी संत थे, अब यह एक सर्वमान्य तथ्य बन चुका है। तत्समय के धर्मसंघों में व्याप्त आचार-शिथिलता और सैद्धांतिक विसंवादिता ने उनके तत्त्वग्राही अंतस्तल को आंदोलित कर दिया और वे सत्य की खोज में निकल पड़े। कठोर तप तपा और उनकी अंतर्दृष्टि जाग्रत हुई। सत्य के आलोक में अध्यात्म और लोक-व्यवहार की सही समझ हेतु उन्होंने नए तथ्य और आचार-विचार की तर्कपूर्ण विवेचनाएं प्रस्तुत कीं। सत्य, अहिंसा और वीतरागता की सार्थक व्याख्याएं दीं। दान-दया जैसे सामाजिक मूल्यों को आध्यात्मिक अनुचिंतना से जोड़कर उनको नए सिरे से परिभाषित किया। धर्म और अधर्म की सही समझ व्याख्यायित कर धर्म के नाम पर पलने वाली भ्रांतियों का निरसन किया।

उन्होंने कहा—त्याग धर्म है, भोग अधर्म। अहिंसा और संयम धर्म है, हिंसा और असंयम अधर्म। हृदय-परिवर्तन धर्म है, बल-प्रयोग और प्रलोभन अधर्म। धर्म अमूल्य है, वह पैसों से खरीदा नहीं जा सकता। धर्म हृदय की पवित्रता है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—धर्म के क्षेत्र में सब जीव समान हैं। धर्म हृदय-परिवर्तन में है, बल-प्रयोग में नहीं। धर्म करने से पुण्य स्वतः होता है, पुण्य के लिए धर्म करना पाप है। शुद्ध साध्य को प्राप्त करने के लिए साधन-शुद्धि अनिवार्य है। दान का अधिकारी संयमी और त्यागी ही होता है। असंयमी और भोगी दान लेने के अधिकारी नहीं हैं। आज मनुष्य जाति की एकता और समानता पर अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति की छाप लग चुकी है। हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो चुका है। अपराधों की रोकथाम के लिए सुधार व प्रशिक्षण के उपाय काम में लिए जा रहे हैं। कारागृहों को सुधारगृहों में बदलने का प्रयत्न हो रहा है। महात्मा गांधी ने भी हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत पर बल दिया था। दान और दया की प्रवृत्ति सामाजिक स्वस्थता के लिए घातक मानी जा रही है। साध्य-साधन की शुद्धि पर प्रबुद्ध व्यक्तियों की समीक्षा आचार्य भिक्षु के विचारों के अनुकूल है।

”

आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी
भिक्षु जन्मोत्सव

आषाढ़ पूर्णिमा : तेरापंथ स्थापना दिवस

जहां राग, द्वेष और मोह हैं, वहां धर्म नहीं है।

धर्म और अधर्म : मिश्रण नहीं

जैसे वर्तमान युग की एक समस्या है—खाद्य-पेय पदार्थों में विजातीय तत्त्वों का मिश्रण; वैसे ही आचार्य भिक्षु के युग की एक जटिल समस्या थी—धर्म और अधर्म का मिश्रण। यज्ञ-प्रथा की अवधारणा थी—यज्ञ-विधि में धर्म और पाप दोनों एक साथ होते हैं। दक्षिणा देना धर्म और बलि के लिए पशुवध करना पाप। यह अल्प पाप, पुण्य के सिद्धांत के रूप में जन-भावना को प्रभावित किए हुए था। जैन समाज भी इस विचारधारा के समर्थन में मानने लगा था कि दया की भावना से जीवों को मारने में पाप और धर्म—दोनों होते हैं। बड़े जीवों पर दया होती है, वह धर्म है तथा छोटे जीवों की घात होती है, वह पाप है। यहां धर्म अधिक होता है और पाप कम, इसे वे मिश्र धर्म मानते।

आचार्य भिक्षु ने धर्म और अधर्म की इस मिलावट का सशक्त स्वर में प्रतिकार किया। उन्होंने कहा—अन्य वस्तुओं में मिश्रण (मिलावट) हो सकता है, पर धर्म-अधर्म का या मोक्ष और संसार का कभी मिश्रण नहीं होता। उनकी

तत्त्व-मीमांसा का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—लौकिक और आध्यात्मिक धर्म एक नहीं हो सकते।

प्रेयस् और श्रेयस् विवेक

प्रश्न होता है, क्या जीवन के प्रेयस् और श्रेयस् पक्षों में पूर्णतः पार्थक्य संभव है? आचार्य भिक्षु इन्हें सर्वथा भिन्न मानते थे। बाइबिल में भी दोनों पक्षों को अलग-अलग रूपों में देखा गया है। ऐसा उल्लेख मिलता है कि ईसा मसीह जब ईश्वरीय सत्ता का उपदेश दे रहे थे, एक अनास्थाशील—'नोन बिलीवर'—व्यक्ति ने उनके सामने एक सिक्का उछाला। उसके एक ओर तत्कालीन शासक सीजर की मूर्ति अंकित थी और दूसरी तरफ 'गॉड' का चिह्न अंकित था। ईसा मसीह ने उसके अभिप्राय को पकड़ लिया। उस व्यक्ति को सलाह देते हुए बोले—'जो वस्तु सीजर की है, वह सीजर को दे दो और जो वस्तु ईश्वर की है, वह ईश्वर को दे दो।'

इस संवाद की व्यंजना स्पष्ट है। मानवीय जीवन के दो पक्ष हैं—लौकिक और लोकोत्तर। अपनी-अपनी भूमिका में दोनों का मूल्य है। एक-दूसरे को उलांघने से न लौकिक पक्ष स्वस्थ रहता है और न अध्यात्म सुरक्षित रह सकता है। उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि बाइबिल में भी लौकिक और पारलौकिक—ये दोनों पक्ष स्वीकृत हैं। राजनीति और धर्म को भी वहां अलग-अलग माना गया है।

आचार्यश्री भिक्षु ने भी यही घोषणा की थी कि आत्म-धर्म और लोक-धर्म की भूमिका को समझो। उनका मिश्रण मत करो। अतिक्रमण मत करो। उन्होंने कहा—घी का अपना मूल्य है, अपना उपयोग है। तंबाकू का अपना मूल्य और उपयोग है। यदि उन दोनों को मिला दिया जाए तो वह घोल न घी की अपेक्षा को पूरा कर सकता है और न तंबाकू की जगह ही काम आ सकता है। दोनों ही दृष्टियों से वह बेकार होगा। ठीक इसी प्रकार अध्यात्म-साधना की भूमिका में आध्यात्मिक अनुष्ठान और समाज-व्यवस्था की भूमिका पर सामाजिक कर्तव्यों की मूल्यवत्ता सहज समझ में आ जाती है। आचार्य भिक्षु ने इसीलिए कहा—अध्यात्म धर्म को लोक-व्यवहारों के साथ घसीट कर उसका अवमूल्यन मत करो।

बौद्ध साहित्य में भी यह चिंतन प्रतिबिंबित हुआ है। कहते हैं—

आचार्य बोधिधर्म चीन गए। वहां का सम्राट आया। बोधिधर्म को प्रणाम किया। विनम्रता से जिज्ञासा की—'भंते! मैंने अनेक बुद्ध-मंदिर बनवाए हैं, अनेक अनाथाश्रम, धर्मशालाएं और चिकित्सालयों का निर्माण कराया है, क्या ये मेरे लिए श्रेयस्कर होंगे?' बोधिधर्म ने कहा—'नहीं।' सम्राट ने फिर पूछा—'भंते! तथागत का संदेश जन-जन तक पहुंचे, घर-घर पहुंचे, इसलिए मैंने दूर-दूर तक अपने सैकड़ों दूत भेजे हैं, क्या यह प्रयास मेरे लिए श्रेयस्कर होगा?' बोधिधर्म बोले—'नहीं।' सम्राट असमंजस में था। उसने अगला प्रश्न किया—'भंते! धर्म-प्रचार के लिए मैंने त्रिपिटकों की लाखों प्रतियां लोगों को बांटी हैं। यह तो मेरे लिए कल्याणकारी है?' बोधिधर्म ने फिर कहा—'नहीं'। 'इसका क्या कारण है भंते?' सम्राट की जिज्ञासा थी। बोधिधर्म ने संबोध की भाषा में कहा— 'राजन! कल्याण का मार्ग है शील की साधना। मंदिरों का निर्माण, धर्म-प्रचार और शास्त्रों का लेखन—ये उल्लासकारी प्रवृत्तियां हैं। इनका महत्त्व शील की साधना से ही बढ़ता है। शील—संयम, सदाचार के बिना मात्र इनसे कल्याण संभव नहीं।'

आचार्यश्री भिक्षु ने भी अहिंसा, संयम और तपमूलक प्रवृत्तियों को अध्यात्म धर्म या मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकृति दी और इनसे व्यतिरिक्त प्रवृत्तियों को लौकिक धर्म या व्यवहार धर्म के अंतर्गत स्थापित किया।

जीवन और मृत्यु : सम्यक् दृष्टिकोण

आचार्यश्री भिक्षु ने दान, दया, अनुकंपा और उपकार—इन मूल्यों को सावद्य और निरवद्य की कसौटी पर कसा और निरवद्य प्रवृत्तियों को मोक्ष का साधन माना। इन तत्त्वों की विवेचना उन्होंने आत्मरक्षा और प्राणरक्षा के संदर्भ में की। उन्होंने कहा—अध्यात्म के क्षेत्र में जीना और मरना—इन दोनों का न स्वतंत्र मूल्य है और न स्वतंत्र अवमूल्यन। महत्त्व है अहिंसा और संयम का, महत्त्व है वीतराग चेतना के विकास का। व्यवहार के क्षेत्र में जीवन काम्य है, मृत्यु अकाम्य। धर्म के क्षेत्र में संयमी जीवन श्रेष्ठ है और संयम-समाधिमय मृत्यु भी अभिनंदनीय है। इसके विपरीत संयम रहित जीवन और असमाधिपूर्ण मृत्यु—दोनों ही अकाम्य हैं। उस समय की एक व्यापक अवधारणा थी कि मरते हुए प्राणियों की प्राण-रक्षा बहुत बड़ा धर्म है, पुण्य है। आचार्य भिक्षु ने कहा—

जीव जीवे तो दया नहीं, मरे तो हिंसा मत जाण।
मारणवाला ने हिंसा कही, नहीं मारे ते दया गुण खान।।

इसी विचारधारा के आधार पर समूचा भिक्षु-दर्शन पल्लवित हुआ है। किंतु यह मान्यता आचार्य भिक्षु की

मनगढंत नहीं है। प्राचीन साहित्य में इसका पुष्ट समर्थन उपलब्ध होता है। आचार्य धर्मदासगणी द्वारा रचित उपदेशमाला के ये श्लोक मननीय हैं—

तवणियम सुट्ठियाणं, कल्लाणं जीवियं पि मरणं पि।
जीवंतज्जंति गुणा मयावि पुण सुग्गइं जंति।।
अहियं मरणं च अहियं जीवियं, पाव कम्म कारीणं।
तमसंमि पडंति मया, वेरं वड्ढंति जीवंता।।

अर्थात्—'तप और नियम में स्थित प्राणियों का जीवन भी कल्याणकारी है और मृत्यु भी कल्याणकारी है। संयमी जीवन जीते हुए वे ज्ञान-दर्शन आदि गुणों का विकास करते हैं और मरकर सद्गति को प्राप्त करते हैं। पाप कर्म में लिप्त प्राणियों का न जीवन हितकर है और न मरण। मरणोपरांत उनकी अधोगति या दुर्गति होती है। जीते-जी वे अन्य प्राणियों के साथ वैर का अनुबंध करते हैं।'

धर्म के क्षेत्र में आचार्यश्री भिक्षु को प्रलोभन और बल-प्रयोग भी मान्य नहीं था। उन्होंने कहा—दबाव और प्रभाव से धर्म नहीं होता। धर्म स्वभाव में निहित है। भय और प्रलोभन से न किसी को अहिंसक बनाया जा सकता है और न किसी से हिंसा छुड़ाई जा सकती है। बलपूर्वक किसी की हिंसा छुड़ाई जाए और किसी के प्राण बचाए जाएं, ऐसी स्थिति में करुणा भी क्रूरता का पर्याय बन सकती है। एक प्राणी दूसरे को मार रहा है। सामान्यतः दुर्बल प्राणी दया का पात्र बन जाता है। दर्शक सबल पर प्रहार कर दुर्बल को बचाने का प्रयत्न करते हैं। उसे दया माना जाता है। आचार्य भिक्षु की दृष्टि में यह दुर्बल पर राग है तो सबल के प्रति द्वेष भी है। जहां राग-द्वेष है, वहां अहिंसा नहीं हो सकती। जहां हिंसा है, वहां दया कैसी? आचार्य भिक्षु का यह मंतव्य बुद्धिगम्य है। प्रबुद्ध व्यक्तियों की सहमति इस पक्ष के साथ सहज संबद्ध हो जाती है। रामधारीसिंह दिनकर मानो भिक्षु की भाषा में ही बोल रहे हैं। उन्होंने लिखा है—

एक बाज का पंख तोड़कर, करना अभय अपर को।
सुर को सोहे नीति भले यह, नहीं सोहती नर को।।

दो सौ वर्ष पहले प्रस्तुत किए गए आचार्य भिक्षु के ये सिद्धांत आज भी प्रायोगिक और मननीय हैं। (अपेक्षा है उनका मनन अनुशीलन कर नयी पीढ़ी अपनी दृष्टि और दिशा का परिष्कार कर अध्यात्म के क्षेत्र में नए कीर्तिमान स्थापित करे।)

आचार्यश्री भिक्षु की तत्त्व-चिंतना और विचार-दर्शन से प्रभावित होकर नालंदा विश्वविद्यालय के पूर्व उपकुलपति डॉ. सतकौडी मुखर्जी ने लिखा—'यह राजहंस मरुभूमि में कैसे उत्पन्न हो गया, उसे तो मानसरोवर परिसर में उत्पन्न होना चाहिए था। आचार्य भिक्षु जैसे महान दार्शनिक संत राजस्थान में जनमे, इसलिए विश्व उनकी प्रतिभा से लाभान्वित नहीं हो सका। वे यदि जर्मनी में जन्म लेते तो उनका महत्त्व महान जर्मन विद्वान कांट से कम नहीं होता।' एक महान विद्वान का यह चिंतन आचार्य भिक्षु के विराट व्यक्तित्व, बेजोड़ प्रतिभा और जाग्रत प्रज्ञा की झलक प्रस्तुत करता है। वस्तुतः आचार्य भिक्षु का बुद्धिबल, तर्कबल, हेतुबल, सिद्धांतबल और आत्मबल विलक्षण था। उनकी महानता का बीजमंत्र था सत्यनिष्ठा। उनकी धर्मक्रांति का लक्ष्य था सत्य की खोज और उसकी निर्भीक प्रस्तुति।

आचार्यश्री भिक्षु की सिद्धांत-वाणी के मौलिक निष्कर्ष हैं—

- धर्म और अधर्म का मिश्रण नहीं होता।
- अशुद्ध साधन से शुद्ध साध्य की प्राप्ति नहीं होती।
- बड़ों के लिए छोटे जीवों का वध करना पुण्य का कार्य नहीं है।
- गृहस्थ और साधु का मोक्षधर्म एक है।
- अहिंसा और दया सर्वथा एक हैं।
- हिंसा धर्म नहीं होता।
- लौकिक और आध्यात्मिक धर्म एक नहीं हैं।
- आवश्यक हिंसा, अहिंसा नहीं हो सकती।

अहिंसा के प्रखर चिंतक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में भिक्षु-विचार-दर्शन भगवान महावीर की अहिंसा का ही महाभाष्य है। भगवान महावीर ने कहा—अहिंसा, संयम और तप ही धर्म हैं। आचार्य भिक्षु ने अपने युग में प्रचलित धार्मिक मान्यताओं को इसी कसौटी पर कसा और उनकी शुद्धि-अशुद्धि का निर्णय दिया। भिक्षु ने स्पष्ट घोषणा की—चाहे दान-दया का प्रश्न हो या धर्म और पुण्य का, जहां अहिंसा, संयम और तप नहीं हैं, वहां धर्म नहीं है। इसी आधार पर उन्होंने अध्यात्म धर्म और सामाजिक कर्तव्यों को अलग-अलग भूमिकाओं में परखने की प्रेरणा दी। आचार्य भिक्षु द्वारा स्थापित धर्म के रहस्य-सूत्रों को वर्तमान युग-चिंतन में स्वीकृति मिल रही है। अनेक चिंतक, विचारक और समाजशास्त्री युगीन संदर्भों में आचार्य भिक्षु के चिंतन और कथन को दुहरा रहे हैं। समाज और राजनीति—दोनों ही भिक्षु के विचार-दर्शन को मान्यता दे रहे हैं।

आचार्य भिक्षु ने कहा—धर्म के क्षेत्र में सब जीव समान हैं। धर्म हृदय-परिवर्तन में है, बल-प्रयोग में नहीं। धर्म करने से पुण्य स्वतः होता है, पुण्य के लिए धर्म करना पाप है। शुद्ध साध्य को प्राप्त करने के लिए साधन-शुद्धि अनिवार्य है। दान का अधिकारी संयमी और त्यागी ही होता है। असंयमी और भोगी दान लेने के अधिकारी नहीं हैं। आज मनुष्य जाति की एकता और समानता पर अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति की छाप लग चुकी है। हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो चुका है। अपराधों की रोकथाम के लिए सुधार व प्रशिक्षण के उपाय काम में लिए जा रहे हैं। कारागृहों को सुधारगृहों में बदलने का प्रयत्न हो रहा है। महात्मा गांधी ने भी हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत पर बल दिया था। दान और दया की प्रवृत्ति सामाजिक स्वस्थता के लिए घातक मानी जा रही है। साध्य-साधन की शुद्धि पर प्रबुद्ध व्यक्तियों की समीक्षा आचार्य भिक्षु के विचारों के अनुकूल है।

अपेक्षा है आज की प्रबुद्ध युवा पीढ़ी आचार्य भिक्षु के तत्त्व-चिंतन को पढ़े, उसका मनन और अनुशीलन करे तथा धर्म और अध्यात्म की सही समझ विकसित करे। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के
विचार–प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों–कविताओं
का स्वागत है।

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ–साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ–सुथरी, बिना काट–छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम–सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल–मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी–
कविता भी भेज सकते हैं

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र–व्यवहार करना संभव नहीं होगा

“

समाज-निर्माण और आचार्यश्री महाप्रज्ञ

□ मुनि जयकुमार □

समाज के स्वरूप, उसके कार्य-कलापों और रीति-नीति पर अनेक विद्वानों ने अलग-अलग तरह से मत प्रकट किए हैं। प्राचीन भारत में भी सामाजिक चिंतन को यथेष्ट महत्त्व मिलता रहा है। रामायणकालीन समाज, बौद्धकालीन समाज, पाणिनीकालीन समाज आदि—हर युग में विद्वान मनीषियों ने अपने मत से समाज को प्रभावित किया है। पश्चिम में भी इसी तरह अनेक विद्वानों के समाज-शास्त्रीय अध्ययन सामने आए हैं। महात्मा गांधी, विवेकानंद, दयानंद सरस्वती आदि अनेक भारतीय विद्वानों ने जो चिंतन दिया है, उससे समाज को क्रांतिकारी दिशा मिली है। इसी कड़ी में एक महत्त्वपूर्ण नाम है आचार्यश्री महाप्रज्ञ, जिनकी बहुआयामी मेधा ने समाज के हर वर्ग को विगत पांच दशक से सर्वतोमुखी प्रभावित किया है। एक जैन संत समाज की हर ज्वलंत विधा पर अधिकारपूर्वक अपना मत प्रस्तुत करे और समाज का सुधी वर्ग उसका सम्मान करे—यह विरल घटना है। भौतिक समाज से सर्वथा पृथक् रहकर कठोर महाव्रतों से युक्त व्यक्तिपरक जीवन जीने वाला संत समाज-दर्शन की व्याख्या कैसे कर सकता है?

समाज के नवनिर्माण के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी स्वार्थपरक प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर सामाजिक हितों के बारे में चिंतन करे। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार—समाज-निर्माण का आधार अहिंसात्मक एवं नैतिक होना चाहिए। अहिंसोन्मुखी समाज के साथ व्यक्ति का नैतिक निर्माण भी आवश्यक है। यदि व्यक्ति ही नैतिक नहीं होगा तो समाज की अहिंसोन्मुखता केवल कल्पना ही होगी। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसीलिए समाज और व्यक्ति में संतुलन स्थापित करने की बात कहते हैं। समाज-निर्माण के लिए व्यक्ति का समर्पण और सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण भी वे आवश्यक मानते हैं।

”

जन्मोत्सव
(आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी)
अभिवंदना

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का चिंतन बुनियादी रूप से दर्शन और आध्यात्मिकता पर अवलंबित है, लेकिन अन्य अनुशासनों से भी वे पूरे बाखबर हैं। यही नहीं, उनका समग्र चिंतन वैज्ञानिकता के ठोस आधार पर भी टिका हुआ है। विचारों की मौलिकता तथा तथ्यों की कसौटी पर कस कर निकले हुए उनके विचारों में केवल भारतीय दर्शन की झलक ही नहीं, पाश्चात्य दर्शन का निचोड़ भी समाविष्ट है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते भी हैं—'कोई भी विचार ऐकांतिक नहीं होता। विचार—चाहे किसी भी धर्म, संप्रदाय, समाज या व्यक्ति के क्यों न हों—उन्हें सीमा में नहीं बांधा जा सकता।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी खुले मस्तिष्क व खुले विचारक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इसीलिए उनकी जीवन-शैली अनेकांत दर्शन है। इसी की फलश्रुति है कि दर्शनशास्त्र और अध्यात्म के साथ-साथ अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, स्वास्थ्यशास्त्र, शिक्षाशास्त्र तथा विज्ञान के अध्ययन और तत्संबंधी विचारों को वर्तमान संदर्भ में प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने की अमाप्य क्षमता उनके चिंतन में देखने को मिलती है। प्रज्ञा और प्रतिभा के इस अधिष्ठाता की लेखनी में आकर्षण

है। क्योंकि वे व्यक्ति व समाज के समेकित चिंतन पर बल देते हैं, साथ ही उसे व्यावहारिकता प्रदान करते हैं। अतः उनका चिंतन कोरा चिंतन-भर नहीं रह जाता है।

व्यक्ति व समाज की अन्योन्याश्रितता

भगवान महावीर की अनेकांत दृष्टि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को प्राप्त है। उनके अनुसार व्यक्ति के साथ-साथ समाज को भी महत्त्व मिलना चाहिए। समाज के बिना व्यक्ति के विकास की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। समाज के महत्त्व का आकलन व्यक्ति के बिना कैसे किया जा सकता है? अतः आचार्यश्री महाप्रज्ञजी समाज और व्यक्ति की तादात्म्यता को प्रतिष्ठित करते हुए कहते हैं—व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज के साथ जुड़ा हुआ रहता है और उसका ही सामाजिक रूप व्यक्तित्व का निर्माण करता है। जब तक सामाजिक चेतना जाग्रत नहीं होगी तब तक व्यक्ति का मूल्य भी घटता जाएगा। समाज से कटकर व्यक्ति सुसंस्कृत नहीं रह सकता। जितनी अच्छी समाज-व्यवस्था होगी, उतना ही अच्छा व्यक्ति के चरित्र का विकास होगा।

व्रती समाज : व्यक्ति-केंद्रित समाज

समाज और व्यक्ति का घनिष्ठ व अन्योन्याश्रित संबंध है। व्यक्ति के बिना समाज की सत्ता नहीं है और समाज के बिना व्यक्ति को पूर्णता नहीं मिलती। समाज का आधार सामाजिक नीति एवं व्यक्तियों का पारस्परिक समरसतापूर्ण व्यवहार है। चाहे कोई काल हो, हर सामाजिक व्यक्ति से श्रम, संयम एवं स्वैच्छिक सादगी के जीवन की अपेक्षा रहती है। यह अपेक्षा व्यक्ति के शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य के लिए है, आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए है तथा शोषण से मुक्ति के लिए है। सामाजिक समरसता का विकास तभी संभव हो सकता है।

भगवान महावीर ने हजारों वर्ष पूर्व व्रती समाज की परिकल्पना की थी। उन्होंने बारह व्रतों का ऐसा प्रारूप तैयार किया, जो व्यक्ति और समाज में संतुलन स्थापित कर सकता है। जीवनयापन करने के लिए व्यक्ति को हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है। वह आवश्यक हिंसा से नहीं बच सकता। जीवन चलाने के लिए उसे अनाज की आवश्यकता होती है, इसके लिए उसे खेती भी करनी पड़ती है, व्यापार भी करना पड़ता है। सीमा पर रहने वाले सैनिक का यह दायित्व है कि वह स्वयं की रक्षा करे, देश की सीमा की भी रक्षा करे।

भगवान महावीर ने तीन प्रकार की हिंसा के विकल्पों का विश्लेषण किया है—आरंभजा, संकल्पजा तथा विरोधजा। आरंभजा अर्थात् आवश्यक हिंसा, अर्थ हिंसा। एक सामाजिक प्राणी अपनी दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए तथा आत्मनिर्भरता के लिए आवश्यक हिंसा से बच नहीं सकता। उसे अनेक प्रवृत्तियों से गुजरना पड़ता है। अपनी जीवनी-शक्ति को सुचारु ढंग से चलाने के लिए पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु एवं वनस्पति आदि को प्रयोग में लेना पड़ता है। दूसरा विकल्प है संकल्पजा। संकल्पजा अर्थात् अनर्थ हिंसा। इससे व्यक्ति बच सकता है। अनर्थ हिंसा जीवनयापन के लिए आवश्यक नहीं है। विरोधजा—अर्थात् किसी दूसरे द्वारा अपने पर किए हुए प्रहार का बचाव करना या विरोध करना। इस हिंसा से भी बचना व्यक्ति के लिए कठिन है, फिर भी इस पर कुछ स्वैच्छिक नियंत्रण संभव है।

संतुलन : त्याग और भोग का

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—यह जरूरी नहीं कि समाज में जितनी वस्तुएं हैं, उन सबका उपभोग किया जाए। इस वैज्ञानिक युग में पदार्थों की अंधाधुंध होड़ लगी हुई है। प्रचुर मात्रा में सुविधाएं बढ़ी हैं, इसी कारण आसक्ति भी बढ़ी है। व्यक्ति की चेतना पदार्थवादी बन गई है। वे कहते हैं—पदार्थवादी अथवा भोगवादी चेतना का परिणाम एक समाज के लिए अच्छा नहीं है। आवश्यक और अनावश्यक का विवेक होना जरूरी है। पदार्थवादी समाज-व्यवस्था मनुष्य में इंद्रिय-लोलुपता बढ़ाती है, उसे आसक्त बनाती है। निश्चित ही यह खतरे की घंटी है। पदार्थवादी समाज-व्यवस्था प्रियता और आकर्षण के आधार पर चलती है। ऐसी मानसिकता घर करने लग जाती है।

सोचने की बात यह है कि मनुष्य आखिर पदार्थ का कितना उपभोग करे। उपभोग की एक सीमा होनी ही चाहिए। सामाजिक संतुलन के लिए आवश्यक है कि भोग व त्याग के बीच एक संतुलन हो।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि आवश्यक पदार्थों का उपभोग और अनावश्यक पदार्थों का त्याग—यह विवेक-चेतना जाग्रत होना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि उसके लिए आवश्यक क्या है और अनावश्यक क्या है। यदि समाज में यह चेतना जाग्रत हो जाए कि अनावश्यक पदार्थों का उपयोग न हो और आवश्यक पदार्थों में भी सीमाकरण रहे, तो सामाजिक

समरसता का एक सबल आधार तैयार हो जाता है। जिस समाज में इंद्रिय-लोलुपता पर कोई अंकुश नहीं होता है, वह समाज उत्तरोत्तर विनाश की ओर बढ़ता है।

समाज-निर्माण का आधार

समाज के नवनिर्माण के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी स्वार्थपरक प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर सामाजिक हितों के बारे में चिंतन करे। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार—समाज-निर्माण का आधार अहिंसात्मक एवं नैतिक होना चाहिए। अहिंसोन्मुखी समाज के साथ व्यक्ति का नैतिक निर्माण भी आवश्यक है। यदि व्यक्ति ही नैतिक नहीं होगा तो समाज की अहिंसोन्मुखता केवल कल्पना ही होगी। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसीलिए समाज और व्यक्ति में संतुलन स्थापित करने की बात कहते हैं। समाज-निर्माण के लिए व्यक्ति का समर्पण और सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण भी वे आवश्यक मानते हैं।

समाज-व्यवस्था के सूत्र

समाज-व्यवस्था का आधारभूत विकल्प रखते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी उसके पांच बिंदु प्रस्तुत करते हैं। इन सूत्रों को आधार मानकर समाज-निर्माण की नींव रखी जाए तो व्यक्ति का सामाजिक जीवन शांतिपूर्ण हो सकता है। ये सूत्र हैं—श्रम, स्वावलंबन, वैयावृत्य, स्थिरीकरण और वात्सल्य। इन सूत्रों पर थोड़ी नजर डालनी चाहिए।

श्रम

महात्मा गांधी श्रम को पूंजी से श्रेष्ठतर मानते रहे हैं। श्रम ही कर्म का प्रतीक है। समाज भी श्रम के आधार पर ही टिका हुआ है। एक वस्तु के निर्माण में न जाने कितने व्यक्तियों का श्रम बोलता है। वैदिक संस्कृति में वर्णाश्रम व्यवस्था दी गई है—शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण—ये चार वर्ण वर्णाश्रम का ही स्वरूप स्पष्ट करते हैं। श्रम से कोई भी वर्ण विमुख नहीं, उनमें स्तरीकरण है। वर्तमान में श्रमिक एवं पूंजीपतियों के बीच अत्यधिक स्तरीकरण है। फलतः पूंजीपतियों में विलासिता अधिक है और श्रमोन्मुखता कम। एक श्रमिक अपनी जीविका श्रम के आधार पर चलाता है। श्रम से उत्पादित वस्तुओं के आधार पर ही व्यक्ति सामाजिक सुविधाओं का उपभोग करता है। पूंजीपतियों का निर्माण भी श्रमिकों के द्वारा ही होता है। एक वर्ग श्रम करे और एक वर्ग श्रम से दूर रहे, किंतु पदार्थ-भोग सर्वाधिक करे—यह अस्वस्थ सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का द्योतक है।

जैन परंपरा प्राचीन समय से ही श्रमण परंपरा से जुड़ी हुई है। जैन श्रमणों का जीवन श्रम-शक्ति के आधार पर प्रतिष्ठित है। श्रम उनके जीवन का पर्याय है। अतः आज भी जरूरी है कि व्यक्ति श्रम के मूल्य को पहचाने। समाज-व्यवस्था का संतुलन इसी से बना रहेगा। एक स्वस्थ समाज को इसी तरह रूपायित किया जा सकता है। यंत्र के अधीन होकर मानव आज श्रम की मूल्यवत्ता को भूलता जा रहा है और साथ ही अनेक समस्याओं को भी, दुर्भाग्य से, आमंत्रित कर रहा है।

स्वावलंबन

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'—यह जैन संस्कृति का मूल उद्घोष है। दुनिया में हर प्राणी एक-दूसरे के सहारे जीता है। वह स्वयं भी श्रम करता है और दूसरों के श्रम का उपयोग भी करता है। इस प्रकार जीवन और जगत् का अस्तित्व एक-दूसरे के सहयोग पर टिका हुआ है। जब भी इसमें असंतुलन पैदा होता है, अस्तित्व को चुनौती मिल जाती है। इसलिए अपने अस्तित्व के लिए दूसरों का सहयोग आवश्यक है। यही स्वावलंबन का मूल सूत्र है।

स्वावलंबन का बुनियादी तात्पर्य आत्मनिर्भरता है, मात्र वैयक्तिक हित ही नहीं है। सामाजिक सहयोग स्वावलंबन की मूल भित्ति है। व्यक्ति एक-दूसरे का परस्पर सहयोग करे, स्वावलंबी बने तथा सामाजिक समरसता के महल को सुदृढ़ आकार दे—यह बहुत जरूरी है।

वैयावृत्य

'जो ग्लान की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है'—भगवान महावीर की यह वाणी सेवा की महत्ता को प्रतिष्ठित करती है। समाज-व्यवस्था के असंतुलन का एक कारण सेवापरायणता का नहीं होना भी है। मानव मात्र के सुख-दुख में सम्मिलित होना, उसके कष्ट में सहानुभूति प्रकट करना तथा उसकी चित्त-समाधि में सहयोग करना वैयावृत्य है। अच्छी सामाजिक व्यवस्था के लिए इस प्रकार की भावना आवश्यक है। समाधि का वातावरण पैदा करना, विचिकित्सा दूर करना, ग्लानि का निवारण करना, वात्सल्य प्रकट करना, निःसहायता या निराधारता की अनुभूति न होने देना—आदि ऐसे घटक हैं जो किसी भी समाज को स्थायित्व प्रदान कर सकते हैं।

स्थिरीकरण

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—आस्था का अभाव आज के युग की एक बड़ी समस्या है। श्रद्धा इतनी विचलित

है कि आदमी कहीं भी टिक नहीं पा रहा है। उसका चिंतन भी अस्थिर रहता है। यह कहना वांछनीय होगा कि समाज के हर व्यक्ति को परस्पर एक-दूसरे की आस्था को स्थिर एवं सुदृढ़ करने में सहयोग करना चाहिए। विधि-निषेध, ग्राह्य-अग्राह्य, सही-गलत के बीच स्पष्ट भेदरेखा खींचकर व्यक्ति को सन्मार्गोन्मुख करना तथा अहिंसोन्मुख समाज पर उसकी आस्था को टिकाए रखना स्थिरीकरण है। सामाजिक सुदृढ़ता एवं परस्पर सामंजस्य की दृष्टि से यह आवश्यक है।

वात्सल्य

आत्मौपम्य या आत्मतुला का सिद्धांत अहिंसा की दृष्टि से जहां महत्त्वपूर्ण है, वहीं सामाजिक समरसता के लिए भी यह आवश्यक है। आत्मौपम्य के धरातल पर ही वात्सल्य विकसित हो सकता है। आवश्यकता है—प्रमोद भावना की, माध्यस्थ और करुणा भावना की—जिससे व्यक्ति के भीतर एक ऐसी ऊर्जा उत्पन्न हो कि वह हर परिस्थिति पार कर सके। यह मानना चाहिए कि एक के विकास से दूसरे का विकास एवं एक की हानि दूसरे की भी हानि है। पारिस्थितिकीय अंतर्निर्भरता में इसे स्पष्ट देखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में आत्मौपम्य की धरा पर वात्सल्य-भाव व्यक्ति का समाजीकरण तो करता ही है, साथ ही उसे हर स्थिति से निपटने की ताकत भी देता है और एक-दूसरे के विकास में सहभागिता की उपयोगिता को भी रेखांकित करता है।

शोषण-विहीन समाज

भगवान महावीर ने शोषण के विरोध में धार्मिक क्षेत्र में आवाज उठाई। उन्होंने आजीविका विच्छेद को बहुत बड़ा अपराध माना। किसी के अधिकार का हनन औचित्य का अतिक्रमण है। जीविका के लिए उपस्थित साधनों में कटौती करना व्यक्ति के श्रम का अवमूल्यन है। श्रम का अवमूल्यन होने से ही शोषणमूलक मनोवृत्ति बढ़ती है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी शोषण-विहीन समाज के रूप में समाज की अंतिम परिणति देखते हैं, क्योंकि शांति उनका परम लक्ष्य है। शोषण-विहीन समाज के अभाव में सामाजिक मूल्यों में संघर्ष अपरिहार्य है। ऐसी स्थिति में सर्वोपरि महत्त्व नैतिक मूल्यों का नहीं, व्यवस्थागत मूल्यों का होता है। शोषण-विहीन समाज के स्वरूप को आचार्यश्री महाप्रज्ञजी बहुत स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं—

- ऐसा समाज अल्पेच्छा और इच्छापरिणाम को महत्त्व देगा। अल्पेच्छा से तात्पर्य संयमित आकांक्षाओं से है। जबकि इच्छापरिणाम का तात्पर्य इच्छा-संयम से है।
- ऐसे समाज में अर्थ और सत्ता के केंद्रीकरण को महत्त्व नहीं मिलेगा। अर्थ और सत्ता का केंद्रीकरण शोषण और संग्रह की समस्याओं को जन्म देता है।
- ऐसे समाज में श्रम और स्वावलंबन की सामाजिक स्तर पर प्रतिष्ठा होगी।
- ऐसा समाज अहिंसोन्मुख होगा। उसका यह विश्वास होगा कि समस्या का शांतिपूर्ण समाधान अहिंसा से हो सकता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी आज अपनी वय के ८6वें वर्ष में भी शोषण-विहीन समाज-निर्माण के लिए मानवीय स्वभाव को बदलने हेतु प्रयत्नशील हैं। वे व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना और संग्रहमुक्त चेतना का निर्माण करना चाहते हैं। संग्रहमुक्त चेतना ही स्वार्थमुक्त चेतना हो सकती है। अध्यात्म चेतना में पदार्थ के प्रति अनासक्ति के भाव उत्पन्न होते हैं तथा केवल आवश्यकता मात्र बचती है। इसलिए संग्रह की मनोवृत्ति स्वतः समाप्त हो जाती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी दूसरे के हितों को कुचलने की स्वतंत्रता समाज में नहीं देते। इसीलिए उनका समाज स्वतंत्र समाज की कोटि में आ जाता है। ❖

जो लोग किसी सामाजिक व्यवस्था की खूबियों को सुरक्षित रखकर महज उनकी बुराइयों को दूर करना चाहते हैं वे भूल करते हैं। यह बुरा पहलू ही संघर्ष को जन्म देकर इतिहास का निर्माण करता है। जो पूंजीवादी पद्धति दौलत पैदा करती है वही गरीबी और बेकारी को भी जन्म देती है। जिस मात्रा में पूंजीपति की वृद्धि होती है उसी मात्रा में, परिणामस्वरूप, मजदूर वर्ग की भी वृद्धि होती है।

—आचार्य नरेंद्रदेव

“

रथ के पहिए

❑ आनंदप्रकाश जैन ❑

मृत्यु-दंड!

सात दिन तक जीवन के समस्त आमोद-प्रमोद सुलभ और उसके बाद चरमदंड! प्रियदर्शी ने सहोदर विताशोक के लिए यही विधान निश्चित किया था। बौद्ध-धर्मावलंबियों पर उसने अनुचित लांछन लगाए थे... परम राजद्रोही की भूमिका में उसने षड्यंत्र करके पाटलिपुत्र के पवित्र राजसिंहासन पर पांव रखा था... और देवानांप्रिय प्रियदर्शी अशोक का न्याय-विधान अपने-पराये सभी के लिए समान था। अपराधी को उसके समस्त समर्थकों से विलग करके एक विशाल अट्टालिका में बंद कर दिया गया था।

यह अट्टालिका नगर की सर्वमोहिनी, सर्वश्रेष्ठ नर्तकी महामाया की मायानगरी थी। सुंदरी महामाया को प्रियदर्शी के दंड-विधान से सूचित कर दिया गया था। एक सुसज्जित रथ जब महामाया के द्वार पर खड़-खड़ करता आकर रुका था, तो वह स्वयं अभागे राजकुमार का स्वागत करने के लिए अट्टालिका से निकल आई थी। इसके बाद उसकी चपल परिचारिकाओं ने उस विचित्र राजबंदी को हाथोंहाथ उठा लिया था। उन्होंने उसे नहलाया-धुलाया, नवीन परिधान पहनाए, बालों में सुगंधित तैल-मर्दन करके उन्हें सुव्यवस्थित किया गया, और जब विताशोक अलक्ष्य के प्रति प्रार्थना से निवृत्त हो चुका, तो देवी महामाया दो थालियों में उत्तम फलों का अल्पाहार लेकर स्वयं उपस्थित हुई।

विताशोक ने दृष्टि उठाकर उसे सिर से लेकर पांवों तक देखा। बालों में प्राकृतिक फूलों का गुंफन, होंठों पर सुगंधित रंगछाल से उत्पन्न की गई लाली, भौंहों में प्राकृतिक वक्र-विन्यास, दो जुड़वां मधुकलशों की एक ग्रीवा...महामाया के पार्थिव शरीर पर प्रत्येक अंग अनुपम था।

कोमल वाणी में उसने कहा, 'कुमार विताशोक, प्रणाम स्वीकार करें... यह दासी का असीम सौभाग्य है कि कुमार मेरे अतिथि होकर आए हैं।'

'हां,' विताशोक ने निस्तेज मुस्कराहट के साथ कहा, 'केवल सात दिन के लिए।'

सुंदरी महामाया की मुस्कराहट में तनिक भी अंतर नहीं पड़ा। उसने उसी मुद्रा में कुमार विताशोक की ओर देखा। गौरवर्ण, उन्नत ललाट, लंबी नासिका, मुख पर एक विचित्र

विताशोक ने सहसा ही एक ठहाका लगाया और बोला, 'सम्राट् ने यह नहीं बताया कि यह शेष जीवन कितने दिन तक चलने वाला है! सकल सभा सुने, इस विक्षिप्त विताशोक ने सात दिनों में इतना विलास किया है कि स्वयं विलास से उसे वितृष्णा हो गई है। सम्राट् अशोक ने अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए अंधकार का आश्रय लेने का निश्चय किया है। अतः जब तक इस शरीर का अंत नहीं होता, तब तक विताशोक के लिए प्रत्येक परिग्रह का त्याग है...'

उस समय मानो जड़ हो गए प्रजाजनों व सभासदों ने आंखें फाड़कर देखा, विताशोक ने एक-एक वस्त्र, एक-एक आभूषण एक के बाद एक शरीर से उतारकर गिराने आरंभ किए। महामाया खड़ी होकर चिल्लाई, 'कुमार! विताशोक!'

”

कहानी

भोलापन, जो होंठों के ऊपर उभरे हुए कत्थई श्मश्रुओं में तेज उत्पन्न कर रहा था... किंतु नेत्रों में एक अवसाद।

महामाया हौले-से हंसी। अल्पाहार के थालों को पहले से ही बिछाई हुई चौकियों पर रखकर उसने कहा, 'इन सात दिनों के लिए प्रियदर्शी ने इस दासी पर जो कृपा की है, उससे मैं जीवन-भर उऋण नहीं हो पाऊंगी। मौर्य वंश में कुमार विताशोक सूर्य के समान तेजस्वी हैं, इसे कौन नहीं जानता? जिस नारी को पूरे सात दिनों तक ऐसे सूर्य का सान्निध्य मिले, वह स्वयं भी एक छोटी-मोटी तारिका में परिवर्तित हो जाए तो क्या आश्चर्य!'

विताशोक को खुलकर मुस्कराना पड़ा। महामाया जब उसके आसन से सटे हुए पुष्प-सज्जित आसन पर बैठ गई, तो धीमे-से कुमार ने मुंह को तनिक उसके निकट लाकर कहा, 'अस्तोन्मुख सूर्य के अवसान के बाद निश्चय ही तारिकाओं का उदय होता है, देवी! मेरी शुभकामना है कि रात-भर तुम्हारा कलेवर देदीप्यमान रहे।'

महामाया ने एक अंगूर उठाकर कुमार की ओर बढ़ाया और बोली, 'यह शुभकामना देने वाला सूर्य बड़ा छलिया होता है, कुमार।'

अंगूर को दो उंगलियों में पकड़ते हुए कुमार ने पूछा, 'वह कैसे?'

महामाया ने एक बड़ा-सा काला अंगूर उठाया और खिलखिलाकर कहने लगी, 'जानते हैं कुमार।'

'नहीं, हम नहीं जानते', विताशोक ने प्रश्नसूचक मुद्रा में कहा।

उसी समय अट्टालिका के द्वार पर किसी राजरथ की चर्रख-चूं आकर रुक गई। महामाया उठकर वातायन तक गई, फिर लौटते हुए बोली : 'महामात्र भद्रायण हैं। क्षमा करें, मुझे जाना होगा, कुमार।'

'किंतु प्रश्न का उत्तर दिए बिना नहीं', कुमार ने कहा।

महामाया फिर खिलखिलाई और हाथ में अभी तक थमा बड़ा काला अंगूर कुमार के तनिक खुले मुख में ठूंसकर वह यह कहती हुई दौड़ गई, 'रात में निखरी हुई तारिका की रूपसुधा का पान करने के लिए भुवन-भास्कर निरंतर पंद्रह दिन तक उचक-उचककर चंद्रमा के वातायन से झांकते रहते हैं।'

अनिंद्य सुंदरी कक्ष की सुगंधि में हलचल उत्पन्न करती हुई चली गई और कुमार विताशोक विभ्रमित-सा बैठा रह गया। जब तक वह लौटकर नहीं आई, तब तक वह यही सोचता रह गया कि मृत्यु को भुलावा देने वाला यह सौंदर्य निःसर्ग ने किस अवकाश में गढ़ा है!

इस बार जब वह आई, तो उसकी परिचारिका के हाथों में दो पेय-पात्र थे। अल्पाहार की थालियों की ओर देखकर महामाया ने कहा, 'कुमार सोचते ही रहेंगे—थोड़ा-सा जलपान नहीं करेंगे क्या?'

विताशोक ने कुछ नहीं कहा। जब परिचारिका चली गई, तो उसने सीधे स्वर में पूछा, 'महामात्र किसलिए आए थे?'

स्मित मुद्रा से महामाया ने उत्तर दिया, 'प्रियदर्शी जानना चाहते थे कि उनके बंदी को कोई कष्ट तो नहीं है।'

'तुमने क्या उत्तर दिया?'

'मैंने महामात्र से कह दिया कि जो जन अपने आतिथेय को कष्ट देना जानते हैं, उन्हें कोई कष्ट उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता...' और महामाया कुमार पर मायावी दृष्टि डालकर फिर मुस्कराई।

विताशोक सीधा हो गया। 'क्या मैंने तुम्हें कोई कष्ट दिया है?'

'हां', नर्तकी ने कहा, 'बहुत बड़ा कष्ट दिया है, कुमार...हृदय में अग्नि प्रज्वलित कर दी है!'

'ओह!' कुमार फिर उठंग गया, 'यह अग्नि प्रीति की होगी!'

'कदाचित्...कह नहीं सकती', महामाया स्वर को अत्यंत धीमा करके बोली। फिर थोड़ी देर चुप रहकर उसने कहा, 'यह अग्नि बहुतों ने प्रज्वलित करने की चेष्टा की है, कुमार...किंतु वे स्वयं जल-जलकर चले गए हैं। किंतु कुमार बिना प्रयत्न के ही इसमें सफल हो गए हैं।'

'हूं!' वितृष्णा से कुमार ने कहा, 'निश्चिंत हो जाओ, देवी महामाया! यह सात दिनों की आग है, फिर बुझ जाएगी...'

'कदांचित्...'

'सुनो महामाया', कठोर किंतु अविकल स्वर में कुमार ने कहा, 'तुम नगरनारी हो और तुम्हारा यह प्रेमालाप बहुत भव्य है। प्रियदर्शी तुमसे यही अपेक्षा रखते हैं। तुम प्रियदर्शी को बराबर सूचना दे सकती हो कि तुम्हारा अतिथि तुम्हें पर्याप्त कष्ट दे रहा है। हम उसे झुठलाएंगे नहीं। किंतु इन सात दिनों में हमें बहुत चिंतन करना है। यदि तुम निरावरोध

हमें यह चिंतन करने दोगी, तो तुम्हें इस वास्तविक सेवा का अचिंत्य पुरस्कार मिलेगा।'

महामाया के मुख से सहसा ही समस्त हास्य-भाव लुप्त हो गया। उसका मुख एक ही क्षण में पीले उबटन का आश्रित हो गया। आश्चर्य के कारण उसकी मनोहर दंत-पंक्तियों के बीच की रेखा परिलक्षित होने लगी।

वह खड़ी हो गई। विनम्र किंतु अविचल स्वर में उसने यथासाध्य संयम रखते हुए कहा, 'कुमार सत्य कहते हैं। मैं नगरनारी हूं और प्रियदर्शी की क्रीत दासी हूं। उनकी आज्ञा का पालन ही मेरा कर्तव्य है। महामात्र भद्रायण ने यह शिक्षा कुमार के पदार्पण से पहले ही मुझे देने की कृपा की थी। प्रेमालाप के इस भव्य प्रदर्शन से थोड़ी-सी देर के लिए ही कुमार का मनोरंजन हो सका। इससे इस नगरनारी की कला सार्थक हुई। दासी प्रस्थान की अनुमति चाहती है। किंतु दासी को अलग करके कदाचित् ही कुमार कोई चिंतन कर पाएं।'

'इसमें भी कदाचित्! ...क्यों?' विताशोक ने पूछा।

'इसलिए कि भय जड़ता को जन्म देता है, चिंतन को नहीं।'

'ओह!' विताशोक ने भौंह चढ़ाकर आश्चर्य से कहा, 'देवी, हमें भयग्रस्त देख रही हैं? देवी को मनःपर्यय ज्ञान मालूम होता है!'

'हां, कुमार', दृढ़ता के साथ महामाया बोली, 'यदि यह मनःपर्यय ज्ञान न हो, तो नगरनारी एक दिन में लुट जाए। इस वाचालता के लिए कुमार क्षमा करें—और साथ ही इस कथन के लिए दासी को अनुमति प्रदान करें कि मात्र चिंतन मनुष्य को अकर्मण्यता व निराशा के गह्वर की ओर ले जाता है। चिंतन तभी सार्थक होता है, जब वह प्रयोग पर आश्रित होता है। बिना नारी के पुरुष का समस्त चिंतन प्रयोगहीन है।'

'बहुत सुंदर!' विताशोक खिलखिलाकर हंसा, 'सभी धर्मों के अधिष्ठाता कहते हैं कि नारी नरक की खान है। मालूम होता है नगरनारी बनकर तुमने कुछ नवीन सिद्धांत खोज निकाले हैं!'

'नरक से भय खाने वालों का चिंतन भी जड़ होता है,' महामाया खड़े-खड़े ही बोली, 'जड़ता ही इन लोगों के दर्शन का चरम सत्य है। भिन्न-भिन्न मार्गों से इस जड़ता तक पहुंचने का उपदेश देने वाले ये अधिष्ठाता जिस नरक की खान को पीछे छोड़ आते हैं, चेतनावान प्रगति का सत्य वहीं अटका रह जाता है... और नगरनारी उनके जड़ चिंतन से टपका हुआ एक फल है, समाज-रचना के प्रयोग में केवल चिंतन पर बल देने का परिणाम है।'

आश्चर्यकीलित विताशोक के मुंह से सहसा ही निकला, 'देवी, तुम विदुषी हो...मुझे मालूम नहीं था!'

'केवल इतना ही मालूम था कि मैं नगरनारी हूं', महामाया ने कहा, 'कुमार विताशोक, इन सात दिनों को शोक-संतप्त होकर बिताने से आप अपने नाम को सार्थक नहीं कर पाएंगे। सम्राट् अशोक ने ये सात दिन आपको इसीलिए दिए हैं कि आप रोएं, हाथ मलें, आंसू बहाएं और इस लघु जीवन के प्रत्येक पल में मृत्यु का दंश अनुभव करें। अपने इस लघु जीवन से प्रयोग के मूल को ही अलग करके आप बलवान सम्राट् के उद्देश्य की पूर्ति करेंगे। शत्रु का उद्देश्य सार्थक करने वाला कभी विजयी नहीं होता। प्रियदर्शी इन सात दिनों में आपके सात सिर काटना चाहते हैं। प्रत्यक्ष में उन्होंने एक ही सिर काटने का दंड दिया है। ध्यान रखिए, उनके हाथ एक ही सिर लगना चाहिए...अब मुझे आज्ञा दें... मैं जाती हूं।'

कुमार विताशोक जड़ की भांति बैठा रह गया। उसे स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि नगरनारी के रूप में महामाया उसे इस प्रकार झकझोर कर चली जाएगी। उसने उसका अपमान किया था, इस आशय से कि दंड देनेवाले की ओर से उसके लिए वह एक विद्रूप के रूप में आई थी और उसका तिरस्कार करके वह वीरता के साथ अपनी मृत्यु का आह्वान करेगा। किंतु अब सुझाने पर उसे प्रतीत हुआ कि जिसे वह वीर भाव समझ रहा था, वह मात्र मृत्यु का भय था। अब उसे पता चला था कि जिस विद्रूप को सम्राट् ने उसका उपहास करने के लिए उसके ऊपर छोड़ा था, वह स्वयं सचेत और विज्ञ था। उसके भीतर लघु जीवन का एक सार्थक दर्शन था। बार-बार उसके कानों में महामाया के ये शब्द गूंजते रहे, '...प्रियदर्शी इन सात दिनों में आपके सात सिर काटना चाहते हैं। प्रत्यक्ष में उन्होंने एक ही सिर काटने का दंड दिया है। ध्यान रखिए, उनके हाथ एक ही सिर लगना चाहिए।'

रात अपना काला आवरण संसार के ऊपर डालती जा रही थी। अट्टालिका दीपकों के प्रकाश से जगमगाने लगी थी। दो परिचारिकाएं छाया की भांति कक्ष के द्वार से लगी थीं। उन्हीं में से एक को बुलाकर विताशोक ने कहा, 'देवी महामाया से कहो कि हम उन्हें बुलाते हैं।'

परिचारिका चली गई, कुछ देर बाद जब वह लौटी, तो उसने देखा कि विताशोक विचारमग्न, कक्ष के फरश को ही मानो नाप रहा था। परिचारिका को देखकर उसने व्यग्रता से पूछा, 'देवी ने क्या कहा?'

'कुमार क्षमा करें', दासी ने कहा, 'देवी ने कहा है कि उनका चित्त स्वस्थ अवस्था में नहीं है, इसलिए आशा है कुमार क्षमा करेंगे।'

'हूं!' विताशोक के मुंह से निकला। तिरस्कृत प्रिय-जन मान का अधिकारी हो जाता है।

उस रात विताशोक की आंख नहीं लगी... और जब तीसरे पहर कुछ लगने लगी, तभी किसी राजरथ की खड़-खड़ ने उसे तिरोहित कर दिया। उसने उठकर वातायन से झांका। अट्टालिका के निचले भाग के सामने फैले हुए मैदान की कालिमा दृष्टिगोचर हुई और उस कालिमा में से निकलकर अट्टालिका के भीतर प्रवेश करती हुई महामात्र भद्रायण की छायाकृति...या फिर उन प्रहरियों के पदचाप उसे सुनाई दिए, जो सारी रात जागकर देवी महामाया के रंगमहल में बंद उस राजकीय बंदी को वध के लिए सुरक्षित रखे रहने के उत्तरदाई थे।

और उस दिन अशोक विताशोक का पहला सिर काटने में सफल नहीं हो सका, क्योंकि जो सिर काटा जाने वाला था, वह मृत्यु के स्थान पर नारी-हृदय के रहस्यों को सुलझाता रहा।

अगले दिन पाटलिपुत्र की वह जनप्रिय नगरवधू अनुपम साजसिंगार के साथ विताशोक के कक्ष में आई। आज भी उसके मुख पर वही मुस्कराहट थी, वही वैभव था, वही दीप्ति थी। कुमार को प्रणाम कर उसने कहा : 'आज मैं कुमार से प्रेमालाप नहीं करूंगी। जानते हैं, रात के तीसरे प्रहर महामात्र भद्रायण क्या समाचार लाए थे?'

'जब तक देवी बताएंगी नहीं, तब तक कैसे जानेंगे हम?' विताशोक ने कहा।

'यही कि प्रियदर्शी को रात-भर नींद नहीं आई... और जब जागते-जागते तीसरा प्रहर होने को आया, तो उन्होंने महामात्र भद्रायण को बुलाकर यह जानने के लिए यहां भेजा कि कुमार विताशोक आने वाली मृत्यु की यंत्रणा भोग रहे हैं या नहीं।'

'क्या पता लगा महामात्र को?' विताशोक ने उत्सुकता के साथ पूछा।

'यही कि कुमार विताशोक कभी के समाप्त हो चुके हैं। उनकी जगह एक भयग्रस्त मानव का कंकाल मात्र है, जिसके लिए जीवन के समस्त सुख विडंबना के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।'

'यह तुमने अपने कल के तिरस्कार का बदला लिया', विताशोक ने दुखित भाव से कहा।

महामाया उसी आसन पर बैठ गई, जिस पर कल बैठी थी। उसी भांति मुस्कराकर उसने कहा, 'कुमार, ऋण चुकाने में इतना दुःख क्यों? यही तो ऋण चुकाने का श्रेष्ठ अवसर है।'

'मुझे कोई दुःख नहीं, देवी', विताशोक बोला।

'तो सुनो', महामाया बोली, 'मैं आने वाले शेष दिनों के लिए आप को खोना नहीं चाहती, सम्राट् इस आवास को यंत्रणागृह समझते रहें, यही मेरे लिए शुभ है। जाना ही है तो किसी का प्यार लेकर जाओ। इससे यात्रा सुगम हो जाएगी, कुमार।'

विताशोक ने चौंककर देवी महामाया की ओर देखा। उसके होंठ कांप रहे थे, उसकी ग्रीवा पर ग्रंथियों का उतार-चढ़ाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा था।

एक अव्यक्त आह्लाद के साथ कुमार विताशोक ने अपने शेष जीवन की समस्त उत्तेजना अंकित कर दी।

उस रात प्रणयी के मनोरंजन के लिए प्रेयसी ने अपने जीवन का सबसे अधिक मनोयोगपूर्ण नृत्य उपस्थित किया। देवी महामाया की अट्टालिका एक ऐसे विलास-भवन में परिवर्तित हो गई, जहां नव-वधू के भविष्य का शृंगार हो रहा हो...और इस प्रकार छः दिन व छः विभावरी बीत गईं। विताशोक भूल गया कि शेष रात्रि के बीत जाने पर वह स्वयं निःशेष हो जाएगा।

किंतु सातवीं रात को देवी महामाया उसका अभिनंदन करने के लिए नहीं आई। पल पर पल, घड़ी पर घड़ी बीतते चले गए। विताशोक विकल हो गया, परिचारिका से पूछने पर पता चला कि देवी किन्हीं आवश्यक कार्यों में व्यस्त हैं, दो प्रहर बीतने पर भी जब देवी के दर्शन नहीं हुए, तो विताशोक के मन पर अवसाद और आशंकाओं का कुहासा छाने लगा।

अर्द्ध रात्रि बीत जाने पर कक्ष के द्वार पर खटखट हुई, तो वह उछल पड़ा। झपटकर उसने द्वार खोल दिए। महामाया द्वार के बीचोंबीच खड़ी थी। उसके मुख पर सौम्यता थी, किंतु नेत्रों से गंभीरता परिलक्षित हो रही थी।

उसने भीतर आकर कक्ष के कपाट स्वयं बंद किए और हौले-से बोली :

'कुमार, तैयार हो जाइए। हम लोगों ने व्यवस्था कर ली है।'

'किसलिए तैयार हो जाऊं? क्या व्यवस्था कर ली है तुम लोगों ने?' विताशोक ने आश्चर्य से पूछा।

'सम्राट् अशोक इस प्रकार अपने सहोदर का वध नहीं कर सकेंगे...'

महामाया ने कहा। उसी समय अट्टालिका के द्वार पर किसी रथ के धीमे-से आकर रुकने की आहट सुनाई पड़ी। महामाया उत्तेजित स्वर में बोली, 'जल्दी कीजिए। महामात्र भद्रायण रथ लेकर आ गए हैं। दो घड़ी बीतते न बीतते रथ के पहिये हम दोनों को लेकर पाटलिपुत्र से दूर हो जाएंगे। सुबह सम्राट् के भटों को यहां विभ्रमित परिचारिकाओं का दल मिलेगा...और कुछ नहीं।'

'ठहरो', विताशोक ने महामाया के उस उत्तेजित स्वरूप को जी-भर निहारकर कहा, 'ठहरो, महामाया। इतनी शीघ्रता करने से हमारा सारा वैभव नष्ट हो जाएगा। इतनी विदुषी होकर भी तुम भोली हो, अस्तायमान सूर्य के साथ अवसन्न होना तारिका को शोभा नहीं देता, तुमने सहसा ही यह कैसे विश्वास कर लिया कि विताशोक कायरों की भांति पलायन कर जाएगा? तब उस चिंतन का क्या होगा, जो प्रयोग के बल पर निखरकर इन सात दिनों में सामने आया है? जिसके दर्शनों से ही लोगों के मनों में प्यार उमड़ा पड़ता है, देवताओं तक को जिसका स्वरूप अत्यंत प्रिय है, ऐसे प्रियदर्शी देवनांप्रिय सम्राट् अशोक को उस चिंतन की सबसे अधिक आवश्यकता है! वह मेरा सहोदर है, उसने मुझे अब तक जीवित रहने दिया, यह उसका मुझ पर ऋण है। यह ऋण चुकाए बिना विताशोक किस प्रकार रथ के पहियों का आश्रय ले सकता है?'

महामाया आशंका से छिटककर अलग हो गई। त्रस्त भाव से उसने विताशोक को मानो अपने नेत्रों में समा लेना चाहा। फिर त्वरित स्वर में बोली, 'कुमार, यह समय कार्य का है, भावनाओं का नहीं। यदि तुम्हारे प्राण नहीं बच सके, तो यह अट्टालिका, यह वैभव, ये विलास-वस्तुएं सब मेरे लिए तुच्छ हैं। तुम्हें क्या मालूम कि इन सात दिनों के अल्प समय में ही महामाया की सारी कला, सारी श्री और समस्त प्राणों पर तुमने अधिकार कर लिया है। भावनाओं को तिरोहित करके चलो, कुमार। महामात्र भद्रायण इस महान कार्य के लिए अपना समस्त वैभव, समस्त प्रतिष्ठा दांव पर लगाए बैठे हैं।'

विताशोक हंसा। महामाया के अनिंद्य रूप से दृष्टि हटाकर उसने वातायन की ओर देखा और बोला, 'कहां ले जाओगी, महामाया? महामात्र भद्रायण से कहो कि इतिहास के विधाता ने जिस नाम को लाल स्याही से काट दिया है, उसे पुनः अंकित करने के प्रयत्न में वैभव लुटाने से कोई लाभ नहीं। इन सात दिनों में जीवन का समस्त स्नेह संचित कर जिस ने अंतिम प्रेयसी के स्वागत की पूरी तैयारी कर ली है, उसे अब और कोई तैयारी करने का अवसर ही कहां है?'

महामाया की बौद्धिक नारी क्षण-भर में ही एक सामान्य बेकल नारी के रूप में परिवर्तित हो गई। आंसुओं को व्यर्थ ही छिपाने के प्रयत्न में उसने अपने हृदय का समस्त अनुरोध उंडेल दिया, 'चलो, कुमार...मेरा हठ रख लो!'

'कहां रखूं तुम्हारे हठ को, माया? कोई स्थान छोड़ा है तुमने, जहां तुम्हारे मानस की प्रयोगशाला स्थापित न हो? महान अशोक को बिना उसका दर्शन कराए कहीं ठौर मिलेगी? इतिपथ से इस प्रकार हटकर भागने से कहीं इतिहास बदल सकता है? जहां जाओगी वहां अशोक मिलेगा, क्योंकि भावनाओं से सर्वथा रहित इतिहास की निर्वाचन शक्ति ने उसे बहुमत से चुन लिया है। इन सात दिनों में तुम्हारे स्नेह ने मेरे बुझते दीप को बल दिया है कि मैं घटाटोप घटनाओं के अंधकार में उस शक्ति को खोज निकालूं। उसका आभास मुझे मिल गया है। कल राजसभा में वह प्रकट होगा, अब समय नहीं रह गया है, महामाया। रथ को विदा कर दो और इस दीप को अंतिम स्नेह-दान दो, जिससे यह अपने अंतिम समय तक संपूर्ण तेज के साथ जल सके।'

महामाया के समस्त भावी स्वप्न फफक-फफककर रो उठे। किसी अलक्ष्य लोक में विचरता विताशोक उसकी पीठ को हौले-हौले थपथपाता रहा।

कुछ समय बाद प्रतीक्षा में खड़ा रथ मानो इस बीहड़ इतिपथ का तेजी से विरोध करता हुआ चर्रख-चूं, चर्रख-चूं करता लौट गया और विताशोक के कक्ष का दीप अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ रात-भर जलता रहा।

सुबह का प्रथम प्रहर समाप्त होते ही महामात्र भद्रायण राजकीय रथ लेकर विताशोक को प्रियदर्शी की सेवा में ले जाने के लिए आ पहुंचे। विताशोक मुस्करा रहा था।

महामाया गंभीर थी। जब उनका रथ राज-पथ को पार करता हुआ राजभवनों की ओर बढ़ रहा था, तो पाटलिपुत्र के निवासियों के ठट-के-ठट उस रथ के पीछे दौड़ रहे थे। सर्वत्र उत्तेजना थी, सर्वत्र मानसिक अशांति थी। सर्वत्र क्षोभ था।

जब विताशोक को राजसभा में उपस्थित किया गया, तो सभा खचा-खच भरी हुई थी। कलाकारों की पंक्ति में महामाया सिंहासन के सबसे निकट के आसन पर प्रतिष्ठित की गई। विचारशील नेत्र ऊपर उठाकर प्रियदर्शी ने विताशोक की ओर देखकर निष्पक्ष भाव का प्रदर्शन किया।

महामंत्री खल्लातक ने उठकर पहले सम्राट् तथा सकल सभा का अभिनंदन किया। फिर कहा, 'महामात्र, प्रियदर्शी, देवानांप्रिय सम्राट् अशोक, प्रतिष्ठित महामात्रगण व अधिकारीजन तथा सकल सभासद मेरी सुनें, आज से आठ दिन पूर्व अभियुक्त विताशोक ने, जो इस समय उपस्थित जनों के सम्मुख है, कतिपय षड्यंत्रकारियों के साथ अभिसंधि करके पाटलिपुत्र के इस पवित्र मौर्यसिंहासन पर दुर्नीति व दुरेच्छा से पांव रखा, इससे पूर्व पूज्य अमिताभ, पूज्य धर्म व पूज्य संघ के प्रति कुवचन कहे—— इन महान अपराधों के कारण अभियुक्त को न्यायाधिपति प्रियदर्शी ने, अपने समस्त इहलौकिक संबंध त्यागकर, निष्पक्ष भाव से सात दिन बाद प्राणदंड देने की आज्ञा सुनाई और उदाहरण-स्वरूप इन सात दिनों तक पाटलिपुत्र के सर्वाधिक आमोद-प्रमोद से पूर्ण विलास-भवन में जीवन के समस्त सुखों का उपभोग करने के लिए छोड़ दिया। अभियुक्त ने अभिधर्म-सेवियों के ऊपर लांछन लगाया था कि वे विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं, इन सात दिनों में मृत्यु की प्रतीक्षा में रत अभियुक्त का विलासितापूर्ण जीवन कैसा व्यतीत हुआ, यह देवी महामाया अभी सकल जनों के सम्मुख निवेदन करेंगी और बताएंगी कि अभिधर्म-सेवी बौद्ध-जन कैसा भयग्रस्त विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं।' फिर महामंत्री देवी महामाया की ओर लक्ष्य करके बोले, 'देवी अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करें।'

देवी महामाया खड़ी हुई, विताशोक ने मुस्कराकर उसके मुख की ओर देखा और विनम्र वाणी में बोला, 'देवी महामाया धरा के सर्वोच्च न्यायाधिपति के सम्मुख हैं, इसलिए निर्भीकता के साथ निवेदन करें।'

उसी समय महामाया की दृष्टि कुमार विताशोक की तेजपूर्ण दृष्टि से टकराई। थोड़ी देर टिकी रही। फिर आंसुओं के दो बड़े-बड़े डोरे पाटलिपुत्र की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी के कपोलों पर लुढ़कते हुए चू पड़े, दोनों हाथों से अपना मुंह छिपाकर वह जहां-की-तहां धंस गई।

विताशोक ने सम्राट् सहित सकल सभा को अपनी ओर उन्मुख किया और बोला, 'देवी महामाया अपना निश्छल निवेदन प्रकट कर चुकीं। वह इस समय कोई राजसम्मत प्रतिवेदन उपस्थित करने की स्थिति में नहीं हैं। सम्राट् स्वयं अभियुक्त को अनुमति दें, तो संभव है वह ज्ञातव्य विषय पर और अधिक प्रकाश डाल सके।'

महामंत्री खल्लातक ने सम्राट् की ओर से अभियुक्त को वह आज्ञा प्रदान की। तब विताशोक छाती तानकर सीधा खड़ा हो गया। सकल सभा सुने, इस आशय से उच्च स्वर में उसने कहा——

'कुछ समय पहले का चंडाशोक, जो आज आप लोगों का स्वयं मनोनीत प्रियदर्शी है, उदाहरण देने की कला में खूब पारंगत है। कुछ समय पहले धरती पर ही नरक का एक उदाहरण उसने उपस्थित किया था, जिस में अपराधियों को अमानवीय व अकल्पनीय यंत्रणाएं देकर इस लोक में ही नरक की यातनाओं का अनुभव कराया जाता था। उस चंडाशोक की नसों में भी जो मौर्य रक्त बह रहा है, वही अभियुक्त विताशोक की नसों में प्रवाहित है। यदि नरक का निर्माण करने वाला चंडाशोक आज धर्माशोक बनकर उस सिंहासन को अपवित्र नहीं करता, तो स्वर्ग के निर्माण का दंभ करने वाला विताशोक किस प्रकार उसे अपवित्र कर सकता था?'

राजसभा मौन रही। किंतु प्रश्न सभी के मानस से टकराया। महामंत्री खल्लातक ने उठकर कहा, 'सम्राट् प्रियदर्शी अभियुक्त की इस धृष्टता को क्षमा करते हैं क्योंकि उनके राज्य में मृत्यु की ओर बलात् जाने वाले व्यक्ति को अपना संपूर्ण अभिमत प्रकट करने का अधिकार है।'

सभासदों के मन में अशोक के धैर्य के प्रति सराहना के भाव उदय हुए। उसी समय विताशोक ने उच्च स्वर से कहा, 'सकल सभासद मेरी सुनें... मैं अपने उन षड्यंत्रकारी साथियों को इस सभा के बीच लाए जाने की मांग करता हूं, जिन्होंने मुझे सिंहासन पर बैठाने की अभिसंधि की थी...'

सभा में चर्चा उठने से पहले ही महामंत्री ने कहा, 'वे षड्यंत्रकारी नहीं पकड़े जा सके। उनके प्रकाश में आते ही उनका न्याय किया जाएगा।'

'किंतु वे अब पकड़े जा सकते हैं', विताशोक ने अव्याहत स्वर से कहा, 'क्योंकि वे इसी सभा के बीच मौजूद हैं... और उनमें अग्रणी स्वयं महामंत्री खल्लातक हैं, जिन्हें अभियुक्त को राजसिंहासन प्राप्त करने का भुलावा देकर स्वयं सम्राट् अशोक ने राजसिंहासन का सबसे बड़ा कांटा हटाने का षड्यंत्र रचा था। इस षड्यंत्र का कारण केवल भय था, क्योंकि इससे पहले ही विताशोक अपने मन, वचन, कर्म से सम्राट् अशोक की ऐतिहासिक सत्ता को स्वीकार कर चुका था और शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता था।'

एक अन्य राजभक्त महामात्र ने अपने स्थान से ही कहा, 'इन सात दिनों में अभियुक्त का मस्तिष्क काफी दूर-दूर तक दौड़ा है।' इसके बाद उसने एक ठहाका लगाया और सभा में ठहाकों का बाजार गरम हो चला।

'आश्चर्य है!' महामंत्री खल्लातक मानो हंसी रोकते हुए बोले, 'इतने सत्यवादी निर्ग्रंथ को छोड़कर महाराज बिंदुसार की प्रजा ने धर्माशोक प्रियदर्शी जैसे महापुरुष को अपना अधिपति चुना!'

विताशोक मानो तड़प गया। उसने उस महामंत्री की ओर घूमकर कहा, 'कौन है जो इतिहास का मनमाना अर्थ लगा रहा है? क्या महानंद की प्रजा ने स्वेच्छा से महानंद को अपना अधिपति चुना था? क्या पौरव की प्रजा ने सिकंदर को अपना अधिपति चुनने के लिए आमंत्रित किया था? अभी सम्राट् धर्माशोक के महामात्रों को यह जानना शेष है कि प्रजा द्वारा नरपतियों के चुने जाने का युग धर्मशास्त्रों व पुराणों में विलीन हो चुका है। नरपति उन ऐतिहासिक शक्तियों के द्वारा चुने जाते हैं, जिनके द्वारा समस्त मानवी व्यवस्था के युग नियंत्रित होते हैं।'

परिहास के साथ प्रहार-ग्रस्त महामात्र ने पूछा, 'और प्रियदर्शी धर्माशोक को चुनने के लिए कौन-सी ऐतिहासिक शक्ति उत्तरदाई है?'

'रथ के पहिये', अभियुक्त विताशोक ने घोषित किया।

राजसभा में निस्तब्धता छा गई। शब्द इतने स्पष्ट थे कि अपने चारों ओर रहस्य का आवरण लपेटे हुए भी अंतस्तलों में उतरते चले गए।

उस निस्तब्धता में विताशोक ने दूसरी बार उस शक्ति का नाम लिया। उसने कहा, 'रथ के पहिये...पहली बार सहोदर धर्माशोक के द्वारा विराट् संख्या में रथ के पहियों का निर्माण हुआ। पहली बार भटों ने यह अनुभव किया कि भारी कवच पहने हाथियों और घोड़ों पर लड़ने की अपेक्षा चपल अश्वों से जुते हुए तीव्रगामी रथों में बैठकर वे न केवल शस्त्रों के वार को सुगमता से काट सकते हैं, बल्कि उनका संचालन भी सुविधा से कर सकते हैं। पहली बार मेरे सहोदर ने यह अनुभव किया कि महाराज बिन्दुसार के विशाल साम्राज्य में दूर-दूर तक अपना आतंक फैलाए रखने के लिए रथ के पहिये सर्वव्यापी सुदर्शन चक्र की परिकल्पना को पूर्ण करेंगे... किंतु यह ऐतिहासिक शक्ति चंडाशोक के हृदय को प्रपंच से मुक्त नहीं कर सकी और...'

विताशोक ने अपने तेजपूर्ण नेत्रों से धर्माशोक की आंखों में ताका। अपूर्ण वाक्य को पूर्ण करता हुआ वह बोला, 'धर्माशोक जिस धर्म का अवलंब लेकर आगे बढ़ना चाहते हैं वह उनके धर्म-निरपेक्ष राज्य का सबसे बड़ा विरोधाभास बनकर खड़ा हुआ है। सबल के सम्मुख अहिंसा व निर्बल के सम्मुख हिंसा, यही प्रयोग में इस धर्म के मतावलंबियों की चर्या है। अध्यात्म के चिंतन में वृक्षों के नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त करने वालों का संघ उन अकर्मण्यों का संघ है, जिन्होंने अपनी आत्मा, अपने स्व के अर्थ को सामाजिक अर्थ-साधन के सम्मुख श्रेष्ठ समझा है और उससे पोषण प्राप्त करते हुए भी उस पोषक शक्ति की पूर्ति के प्रति उदासीन हैं। इस समस्त विडंबना को लिए हुए ये रथ के पहिये उस ऐतिहासिक समयांत तक निश्चित रूप से डगमगाते, दौड़ते रहेंगे, जब तक इस एकत्र होती हुई अध्यात्मवादी अकर्मण्यता का भार उनकी शक्ति के लिए असह्य नहीं हो जाएगा...और इस बीच एक विताशोक ही नहीं, प्रत्येक सहृदय व कोमल चेतना प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से इन पहियों के नीचे आकर कुचलती चली जाएगी। विताशोक अपनी संपूर्ण चेतना के साथ इस ऐतिहासिक प्रगति का सम्मान करता है। अशोक में यदि अब भी खुलकर हिंसा के प्रयोग का साहस हो, तो वह अपने बधिकों को आज्ञा दे... अन्यथा अंधकार होने तक प्रतीक्षा करे...संसार उस समय सो जाता है!'

अनेकों महामात्र मुंह बाए विताशोक के उस वक्तव्य को सुनते रहे, जिसने महान अशोक की ऐतिहासिक स्थिति को सूत्र रूप में निरावरण कर दिया था। महामंत्री खल्लातक उठे, किंतु उसी समय अपने विचारशील नेत्र ऊपर उठाए अशोक अपने सिंहासन से ऊपर उठा और बोला, 'लगता है कि भोग-विलास की प्रचुरता और भावी मृत्यु के भय से अभियुक्त का मस्तिष्क विकृत हो गया है। हम यह

व्यवस्था करते हैं कि विक्षिप्त व्यक्ति को कभी प्राणदंड न दिया जाए। इसलिए हम विताशोक को मुक्त करते हैं। राजधानी के निजी क्षेत्र की सीमा के बाहर वह कहीं भी अपना शेष जीवन व्यतीत कर सकता है!'

विताशोक ने सहसा ही एक ठहाका लगाया और बोला, 'सम्राट् ने यह नहीं बताया कि यह शेष जीवन कितने दिन तक चलने वाला है! सकल सभा सुने, इस विक्षिप्त विताशोक ने सात दिनों में इतना विलास किया है कि स्वयं विलास से उसे वितृष्णा हो गई है। सम्राट् अशोक ने अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए अंधकार का आश्रय लेने का निश्चय किया है। अतः जब तक इस शरीर का अंत नहीं होता, तब तक विताशोक के लिए प्रत्येक परिग्रह का त्याग है...'

उस समय मानो जड़ हो गए प्रजाजनों व सभासदों ने आंखें फाड़कर देखा, विताशोक ने एक-एक वस्त्र, एक-एक आभूषण एक के बाद एक शरीर से उतारकर गिराने आरंभ किए। महामाया खड़ी होकर चिल्लाई, 'कुमार! विताशोक!'

विताशोक की दृष्टि उस ओर नहीं थी। केवल अशोक की दृष्टि महामाया के विकलांगों पर पड़ी और उसकी भौंह ऊपर चढ़ गई।

जब तक विताशोक निर्ग्रंथ, दिगंबर मुनि के रूप में दृष्टिगोचर हुआ, तब तक पाटलिपुत्र की प्रथम नर्तकी चेतना खो चुकी थी। देखते ही देखते विताशोक ने हाथ ऊपर उठाकर अशोक को आशिष दी : 'कल्याण हो' और पीठ मोड़कर, निस्पृह भाव से, लोगों के आश्चर्य-चकित समूह को पार करता हुआ राजसभा से बाहर निकल गया।

कुछ ही समय में विताशोक की ख्याति चारों ओर फैल गई। सुना कि उसने अर्हत पद प्राप्त कर लिया— किंतु एक घने वन के अंधकार में एक दिन सचमुच न जाने किसने किसकी प्रेरणा से अर्हत विताशोक का सिर उसके धड़ से अलग कर दिया। उस सिर के नेत्र अर्द्धोन्मीलित थे और मुख पर एक विचित्र मुसकान थी, जिनसे मिलकर एक अपूर्व क्षमाशीलता के भाव की सृष्टि होती थी। केवल एक ही विचित्र बात थी—यह कांड यद्यपि पाटलिपुत्र से बहुत दूर हुआ—विस्तीर्ण राज्य की सीमा लगभग निकट ही थी—किंतु घटनास्थल तक एक रथ के पहियों के निशान आकर वापस पाटलिपुत्र की दिशा में लौट गए थे। ❖

आजकल कलियुग में लोगों का इतना अधिक मानसिक पतन हो गया है कि वे यह समझ बैठे हैं कि वे चाहे जितना भी पाप करते रहें, परंतु उसके बाद यदि वे किसी पुण्यतीर्थ में चले जाएं, तो उनके सारे पाप नष्ट हो जाएंगे। पर यदि कोई मनुष्य अशुद्ध मन से मंदिर में जाता है तो उसका पाप और भी अधिक बढ़ जाता है तथा वह अपने घर निम्नतर स्थिति में वापस जाता है। तीर्थ वह स्थान है, जहां शुद्ध-पवित्र लोग रहते हैं तथा जो पवित्र वस्तुओं से परिपूर्ण है। किसी स्थान पर पवित्र लोग रहने लगें और यदि वहां कोई मंदिर न भी हो, तो भी वह स्थान तीर्थ बन जाता है। इसी प्रकार किसी ऐसे स्थान में, जहां सैकड़ों मंदिर हों, यदि अशुद्ध लोग रहने लगें तो यह समझ लेना चाहिए कि उस स्थान का तीर्थत्व नष्ट हो गया है। अतएव किसी तीर्थस्थान में रहना भी बड़ा कठिन काम है, क्योंकि यदि किसी साधारण स्थान पर कोई पाप किया जाता है तो उससे तो छुटकारा सरलता से हो सकता है, परंतु किसी तीर्थस्थान में किया हुआ पाप कभी भी दूर नहीं किया जा सकता। समस्त उपासनाओं का यही धर्म है कि मनुष्य शुद्ध रहे तथा दूसरों के प्रति सदैव भला करे। वह मनुष्य, जो शिव को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है वही सचमुच शिव की उपासना करता है, परंतु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितांत प्रारंभिक ही है। यदि किसी मनुष्य ने किसी एक निर्धन मनुष्य की सेवा-शुश्रूषा बिना जाति-पांति अथवा ऊंच-नीच के भेदभाव के यह विचारकर की है कि उसमें साक्षात् शिव विराजमान हैं, तो शिव उस मनुष्य से, दूसरे एक मनुष्य की अपेक्षा, जो कि उन्हें केवल मंदिर में देखता है, अधिक प्रसन्न होंगे।

—स्वामी विवेकानंद

ध्रुव शुक्ल की कविताएं

प्रार्थना

प्रभु
दो पक्ष स्पष्ट करो
सविनय अवज्ञा दो
साहस की प्रज्ञा दो

दो प्रतापी दो
एक पुण्यात्मा
एक पापी दो
दोनों को वर दो
सिद्धि दो
स्वर दो
वंश बढ़े दोनों का
दोनों का घर हो

अपनी संतानों में दोनों की ममता हो
दोनों का राजपाट
दोनों की जनता हो
मंत्र-जाप दोनों का
पुण्य-पाप दोनों का
फूलने दो
फलने दो

मृत्यु सुनिश्चित है दोनों की
दोनों के जीवन को गलने दो
दोनों से प्रेरित हों सबके मन
दोनों से संचालित जीवन को ढलने दो
द्वंद्वों को चलने दो
दोनों के मन में यह हो
दुनिया को रहने दो

मन की संसद

सुख में सुमिरन
दुख में सुमिरन
करने वाले बदल गए
कारण सुख के बदल गए
कारण दुख के बदल गए
मन की संसद
मन की सत्ता
संविधान को करे निहत्था
मन का चोर पकड़ने वाली
पुलिस कहां से आए
हमने अवगुन के गुन गाए

एक और नरक की कल्पना करो

सुनो न्यायाधीश
इस नरक की सारी सजाएं झूठ
इस नरक में
एक और नरक की कल्पना करो
डर भरो
इस नरक में
उस नरक का
ऐसा करो
यह नरक कुछ छोटा पड़े

सजा मत दो
सजाओं की कल्पनाएं दो
ओ जगत के ईश

प्रभु तुम द्वंद्व समास

कोई कब तक
नदी किनारे
बैठा रहे उदास
प्रभु तुम द्वंद्व समास

धरती सबकी मां है
अन्याई भी बो देते हैं
अन्न नियम से
बड़े प्रेम से उग आता है

रोज-रोज ये थोड़ा-थोड़ा
मेरे भीतर क्या मरता है?
सारा सत्य लुटाकर कोई
अपना घर कैसे भरता है!

मरी हुई मछली की पीड़ा
वहीं छोड़कर सागर तट पर
सब मछुआरे रोज चले जाते हैं

कविता मेरी करनी है
मेरी नैया भी तो पार उतरनी है
दे न पाया आज तक मैं
दुख की उपमा
मुझे करना क्षमा

❖

शीलन

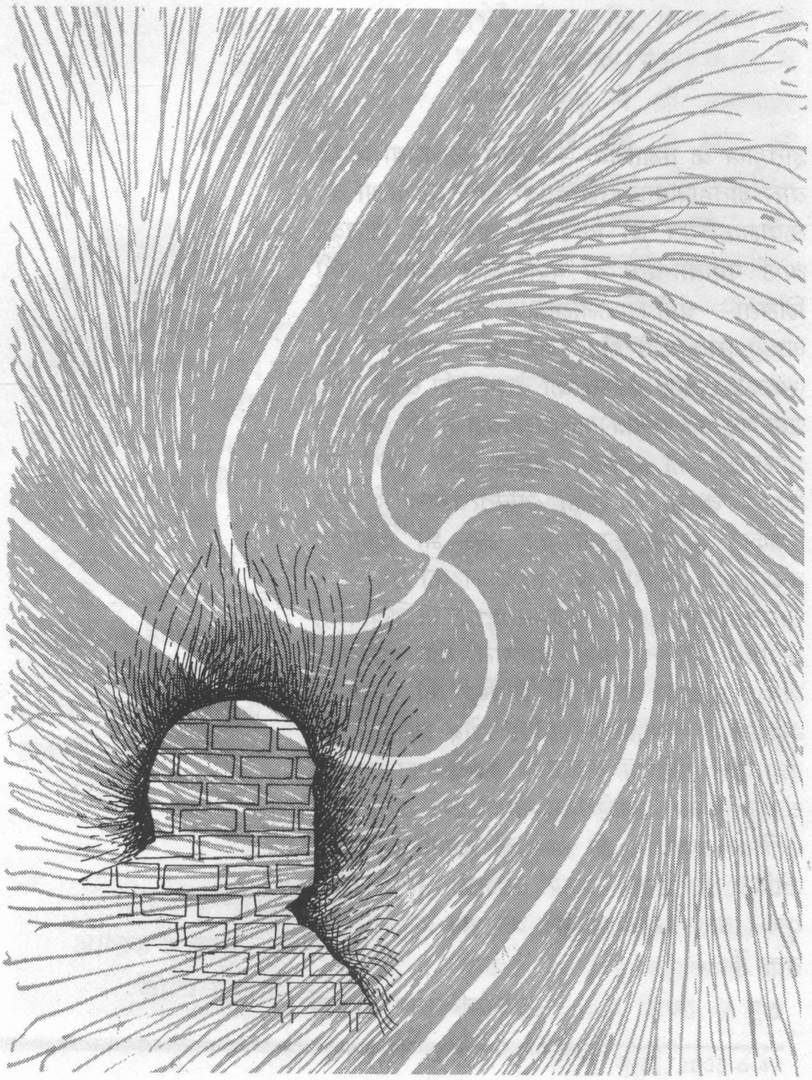

इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन का दावा करने वाले इतिहासकार उन तथ्यों और घटनाओं को कपोलकल्पित या किंवदंती मानते हैं जिनका कोई पुरातात्त्विक या पुरालेखीय प्रमाण नहीं मिलता—चाहे लोकमानस में उनकी कितनी ही गहरी छाप पड़ी हो। ऐसा क्यों? इतिहास का अध्ययन यदि मनुष्य की चेतना की यात्रा और उस पर पड़े प्रभाव का अध्ययन है तो हमें उन घटनाओं को अधिक महत्त्व देना होगा जो हमारी चेतना में अभी अस्तित्वमान हैं और इसलिए हमारे कार्यों को अब भी प्रभावित करती हैं। इतिहास के अध्ययन का उद्देश्य है अपने वर्तमान को अपने अतीत में से गुजारना, क्योंकि अतीत और वर्तमान की द्वंद्वात्मक संबंध-प्रक्रिया में से ही भविष्य की संभावना खुलती है—भविष्य अतीत और वर्तमान की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया का फल है। इसका मतलब यह हुआ कि हमारे लिए आज उस अतीत का अधिक महत्त्व है जो अब भी हमारी चेतना में जीवित है, अतः हमारे वर्तमान और उससे फूटने वाले हमारे भविष्य का एक प्रमुख प्रेरक तत्त्व है।

—नन्दकिशोर आचार्य

"

आचार्य भिक्षु : कुशल मनोवैज्ञानिक

□ साध्वी शुभ्रयशा □

ज्ञान की वह शाखा, जो विशेष रूप से मन का अध्ययन, मनन और विश्लेषण करती है, उसे मनोविज्ञान कहा जाता है, लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान के संदर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है। वर्तमान में इसका कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है। स्नायुतंत्र और 'एंडोक्राइन ग्लेंड्स' के अतिरिक्त मानव के उन समस्त व्यवहारों का समावेश इसमें किया गया है, जो हमारी जीवनशैली के अभिन्न अंग बन चुके हैं।

मनोविज्ञान के विकास में सिग्मंड फ्रायड, युंग, ऐडलर और आलपोर्ट आदि का योगदान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। आचार्य भिक्षु भी इसी क्रम में एक कुशल मनोवैज्ञानिक के रूप में गिनाए जा सकते हैं, यद्यपि मनोविज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने किसी तरह का औपचारिक कार्य कभी नहीं किया। अलबत्ता संगठन को मजबूत बनाने के लिए मनोवैज्ञानिक प्रविधियों को उन्होंने अवश्य काम में लिया।

जब हम आचार्य भिक्षु को पढ़ते हैं, तो लगता है कि वे केवल मनोवैज्ञानिक ही नहीं, एक प्रकार के मनोचिकित्सक भी थे। उनके साहित्य में जिन सिद्धांतों का जैसा सटीक विश्लेषण हुआ है, वैसा मनोविज्ञान की शाखाओं में भी दुर्लभ है। उन्होंने इस क्षेत्र में केवल साहित्य ही नहीं लिखा, अपितु जीवन को ऊंचा उठाने के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रबंधन के सुदृढ़ सूत्र भी दिए। नेतृत्व के क्षेत्र में आचार्य भिक्षु ने जो महत्त्वपूर्ण विधि-विधान दिए, वे आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक हैं। उन्होंने निष्पक्ष न्याय की व्यवस्था की। व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बहुमान देकर नेतृत्व की डोर का केंद्रीकरण भी किया। सकारात्मक बाध्यकरण के द्वारा हृदय-परिवर्तन कर व्यवहार-मनोविज्ञान के सूत्रों को जीवन में लागू किया।

मनोविज्ञान की अनेक प्रविधियों को आचार्य भिक्षु ने काम में लिया। उनमें से चार प्रविधियों की चर्चा करना प्रासंगिक होगा।

नेतृत्व की बागडोर हाथ में लेने के बाद आचार्य भिक्षु ने मर्यादाओं का विधान किया। विधान करने से पहले शिष्यों के मानस को प्रशिक्षित किया। उन्हें अनुशासन के भार से बोझिल नहीं बनाया। अपितु प्रशिक्षण के द्वारा वातावरण का निर्माण किया और शिष्यों के मुख से यह कहलवाया कि 'संघ-विकास के लिए मर्यादाओं का होना बहुत जरूरी है।' मर्यादा पत्र तैयार होने के बाद भी आपने स्पष्ट रूप से कहा— 'जिनकी इन मर्यादाओं का पालन करने में निष्ठा है, वही व्यक्ति इस परिपत्र पर हस्ताक्षर करे। देखादेखी व संकोचवश हस्ताक्षर न करें।'

"

पावन जन्मोत्सव
आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी
बोधि दिवस

मानस प्रशिक्षण प्रविधि

नेतृत्व की बागडोर हाथ में लेने के बाद आचार्य भिक्षु ने मर्यादाओं का विधान किया। विधान करने से पहले शिष्यों के मानस को प्रशिक्षित किया। उन्हें अनुशासन के भार से बोझिल नहीं बनाया। अपितु प्रशिक्षण के द्वारा वातावरण का निर्माण किया और शिष्यों के मुख

से यह कहलवाया कि 'संघ-विकास के लिए मर्यादाओं का होना बहुत जरूरी है।' मर्यादा पत्र तैयार होने के बाद भी आपने स्पष्ट रूप से कहा—'जिनकी इन मर्यादाओं का पालन करने में निष्ठा है, वही व्यक्ति इस परिपत्र पर हस्ताक्षर करे। देखादेखी व संकोचवश हस्ताक्षर न करें।'

मानस प्रशिक्षण प्रविधि मनोविज्ञान का आधार है। इस प्रविधि में किसी को कभी यह सुझाव नहीं दिया जाता कि तुम ऐसा करो, ऐसा करना तुम्हारे लिए ठीक है या तुम्हें ऐसा करना चाहिए। आपसी संवाद के माध्यम से मानस को प्रशिक्षित कर वांछित वातावरण निर्मित किया जाता है। जिसमें व्यक्ति स्वयं अपने मुख से कहता है—'मुझे ऐसा करना चाहिए, ऐसा करना मेरे लिए हितकर है।'

इस प्रकार के चिंतन से व्यवहार में बदलाव आता है। व्यवहार बदलने से जीवन की दिशा भी बदल जाती है।

ऐसे एक नहीं, अनेक प्रसंग हैं जिनमें आचार्य भिक्षु स्वयं सुझाव नहीं देते कि तुम्हें ऐसा करना चाहिए, अपितु सामने वाले के मुख से ही जिज्ञासा का समाधान कराते।

एक भाई ने आचार्य भिक्षु से पूछा—'स्वामीजी! जीव को नरक में कौन ले जाता है?' आपने प्रति-प्रश्न करते हुए कहा—'पत्थर को नीचे कौन ले जाता है?' प्रश्नकर्ता ने कहा—'पत्थर अपने भार से नीचे जाता है।' आचार्य भिक्षु ने इस प्रकार प्रश्नकर्ता के मुख से ही उसके प्रश्न का समाधान करा दिया कि कर्मों का भार जीव को नरक में ले जाता है।

सी. बी. टी. के प्रयोक्ता

यह मनोविज्ञान की एक शाखा है। इसका पूरा नाम Cognitive Behaviour Thought Psychology है। मनोविज्ञान की इस शाखा का विकास आचार्य भिक्षु के कार्यकाल के 150 वर्ष बाद हुआ। आचार्य भिक्षु का जन्म ई. सन 1726 में हुआ और सी. बी. टी. का जन्म 1882 में हुआ। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हैपनर के अनुसार इसका लक्ष्य है—'मानव-व्यवहार का अध्ययन करना, मानव-क्रियाओं पर नियंत्रण करना व जीवन को बुद्धिमत्तापूर्ण समझकर, उसे दूसरों के लिए आदर्श बनाना व अपने लिए आनंददाई बनाना।'

इसे त्रिभुजाकार मनोविज्ञान भी कहा जाता है। क्योंकि इसमें विचार, व्यवहार और क्रियाविधि—इन तीन सूत्रों के आधार पर कार्य होता है। आचार्य भिक्षु का जीवन-दर्शन भी इसी त्रिपुटी पर आधारित था। आपका सूत्र था कि किसी कार्य को करने से पहले उसके बारे में सोचो। सोचकर जीवन-व्यवहार में अपनाओ। जब आचार्य रघुनाथजी से स्वामी भीखणजी पृथक् हुए, तो इस पर विभिन्न दृष्टियों से विधि-निषेधपरक चिंतन किया। स्वामी भीखणजी ने कहा—'मेरा रास्ता सही है, फिर मेरे साथ कोई है या नहीं, इसकी मुझे चिंता नहीं।' सोच-समझकर जो कार्य किया उस पर वे सदा अडिग रहे। आधुनिक मनोशास्त्री भी इस त्रिपुटी को विकास का महत्त्वपूर्ण सूत्र मानते हैं। उनके अनुसार जीवन में इस विधि से कार्य करने वाला कभी असफल नहीं होता। आचार्य भिक्षु इतने महान बने, इसका सबसे बड़ा कारण था कि जीवन में वे असफल बहुत कम हुए।

मौलिक मनोवृत्तियों का परिष्कार

मनोविज्ञान में चौदह मौलिक मनोवृत्तियां मानी जाती हैं, जिनके कारण जीवन में संघर्ष होता है। आहार, भय, क्रोध आदि की तरह लोभ भी एक मौलिक मनोवृत्ति है। मनोवृत्ति एक आंतरिक संवेग है, जो परिस्थिति के कारण जैव रासायनिक परिवर्तन से उत्पन्न होती है।

उस समय साधु समाज में शिष्य-शिष्याओं के प्रति लोभ की मनोवृत्ति प्रबल हो गई थी। आचार्य बनने की लिप्सा व संघ चलाने के लिए अधिकार की मनोवृत्ति से प्रेरित होकर अयोग्य, बुद्धि-विकल व्यक्तियों को दीक्षा दे दी जाती थी। बच्चों को पैसों से खरीदकर दीक्षा दे देते थे।

चेला चेली करण रा लोभिया रे,
एकंत मत बांधण सूं काम रे
विकलां ने मूंड मूंड भेला करे रे,
दिराए गृहस्थ ना रोकडदाम रे।

आचार्य भिक्षु ने अभयतः पाश रचकर इस वृत्ति का परिष्कार किया। मर्यादा में विधान बना दिया—1. तेरापंथ में आचार्य एक ही होगा। 2. कोई भी साधु-साध्वी अपने स्वतंत्र शिष्य-शिष्याएं नहीं बना सकता। जो भी शिष्य बनाएं, वे सब भारमलजी के नाम से बनाएं।

शिष्यों की मौलिक मनोवृत्ति का परिष्कार करने के लिए आचार्य भिक्षु ने विविध मर्यादाएं बनाईं। समविभाग का सूत्र दिया और योग्य शिष्यों की अर्हता का विकास करने के लिए कई रचनाएं कीं। इसके लिए प्रेरणा-प्रोत्साहन की पद्धति को अपनाया, जो मनोविज्ञान में अभिप्रेरणा—'मोटिवेशन' के नाम से विख्यात है।

मनोरोगोपचार

मनोविज्ञान की एक स्वतंत्र शाखा है—मनो-

शेष पृष्ठ 56 पर

“

सम्यक् यमो वा संयमः

❑ समणी अमितप्रज्ञा ❑

विवेक चेतना में जीने वाले प्रत्येक व्यक्ति का अंतिम लक्ष्य होगा—बंधन से मुक्ति, शाश्वत सुख की प्राप्ति, निर्वाण और मोक्ष की प्राप्ति। मुक्ति की प्रबल भावना ही मनुष्य के अंतःकरण को संयम की चेतना से सराबोर करती है। संयम के लिए महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—अतींद्रिय चेतना का विकास। जब तक हमारी चेतना ऐंद्रिय जगत के आस-पास चक्कर काटती रहती है, देह रूपी पिंजर में आसक्त रहती है तब तक उद्घाटित पंचद्वार—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग—प्रतिक्षण व्यक्ति की विवेक चेतना पर ताला लगाए रखते हैं। परिणाम-स्वरूप मनुष्य कभी भी सम्यक् रूप से सोच नहीं पाता। कभी पदार्थ के प्रति अत्यधिक आकांक्षा, कभी धर्म के प्रति अनुत्साह, कभी कषायों का उत्ताप तो कभी मन-वचन-शरीर की चंचलता—सब मिलकर असंयम का स्वर बुलंद होता रहता है। इनका वर्चस्व रहते हुए व्यक्ति कभी भी संयमी नहीं बन सकता। असंयम की जड़ पर प्रहार करने के लिए आवश्यक है कि मलमय पुद्गलों के समूह इस शरीर की सुषुप्त शक्तियों का जागरण हो। लक्ष्य प्राप्ति हेतु शरीर में जो परम सार तत्त्व है—मोक्ष साधना का प्रचुर सामर्थ्य—उसका ज्ञान हो, तभी संयम का स्फुरण संभव है। ऐसा व्यक्ति फिर कभी न तो स्वयं का एवं न ही दूसरों का अनिष्ट चाहेगा। संक्षेप में संयम के अनिवार्य तत्त्व तीन हैं—

1. वैराग्य का प्रादुर्भाव।
2. ममकार एवं आसक्तियों का विलीनीकरण।
3. अपनी शक्तियों से साक्षात्कार।

सम्यक् प्रकार से यमन करना या उपरम होना संयम है। संयम के विविध आयाम निम्नानुसार हो सकते हैं—

⊙ आत्म-नियंत्रण, आत्म-निग्रह संयम है।

⊙ सब जीवों को समान (आत्मवत्) समझने वाला दूसरों के लिए कभी भी भय का वातावरण उत्पन्न कर उन्हें त्रस्त नहीं कर सकता। अतः सब जीवों को आत्मवत् समझना संयम की दिशा में प्रस्थान है।

⊙ जितनी अधिक प्रवृत्ति उतनी ही अधिक अशांति और असंयम है इसलिए इच्छाओं पर नियंत्रण संयम है।

⊙ प्रकृति को प्रकृति में रहने देना संयम का उत्कृष्ट पथ है।

ज्ञान एवं श्रद्धा के बिना असंयम से विरत नहीं हुआ जा सकता तथा संयम विकसित नहीं हो सकता। असंयम को जन्म देने वाली विकारग्रस्त पांच इंद्रियां एवं विषयासक्त मन को श्रद्धापूर्ण कामों में नियोजित करना तथा आत्मनियंत्रण की लगाम से नियंत्रित करना संयम की दिशा में प्रस्थान का राजमार्ग है। सम्यक् दृष्टिकोण तथा भोगोपभोग के साधनों की सर्वसुलभता के बावजूद भी सीमा हो तो संयम का स्वर मुखर हो सकता है। इसके लिए निरंतर अभ्यास जरूरी है। अभ्यास, अनासक्तता एवं त्याग की मनोवृत्ति संयम के पोषण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। भगवान श्रीकृष्ण को अर्जुन प्रश्न करता है—'चंचलः हि मनः कृष्ण'*—हे कृष्ण! इस चंचल मन को वश में कैसे किया जा सकता है? भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—'अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसको वश में किया जा सकता है।' इससे स्पष्ट है कि अभ्यास व वैराग्य से संयम विकसित हो सकता है।*

”

⊙ विषयों में प्रवृत्त इंद्रियां भीतर बैठे चैत्यपुरुष को सुला देती हैं। राग-द्वेष की प्रवृत्ति में लिप्त होने से मनुष्य के संयम रूपी सर्वस्व का हरण कर लेती हैं। इस दृष्टि से इंद्रिय-निग्रह संयम का प्रशस्त पथ है।

⊙ संयम का अर्थ है—समझदारी पूर्वक सीमित साधनों से स्वस्थ जीवन जीने का अभ्यास।

⊙ रांगेय राघव के अनुसार संयम का अर्थ घुटना और सड़ना नहीं है अपितु स्वस्थ बहाव है।

⊙ संयम के विकास का अर्थ है—परिस्थिति पर विजय।

⊙ आचार्य तुलसी के अनुसार साधना की समग्र पद्धति जिस मंदिर की परिक्रमा करती है, उसका देवता मन है। उसकी सिद्धि और उसकी असिद्धि सबकी सिद्धि-असिद्धि होती है। अतः अकुशल मन का निरोध ही वास्तविक संयम है।

इस प्रकार संयम के माध्यम से निग्रह, नियंत्रण, अभय, विजय, विरति, स्वस्थता, पर्यावरण-संतुलन आदि संपूर्ण भावनाएं समाविष्ट हो जाती हैं।

वैराग्य रूपी रथ पर आरूढ़ होकर ही व्यक्ति असंयम की आग को स्वाहा कर संयम के राजसिंहासन पर आरूढ़ हो सकता है।

सब जीवों के प्रति आत्मौपम्य की भावना ही संयम है। व्यवहार दृष्टि से हम किसी के प्रति अनिष्ट भावना न करें, अनिष्ट न बोलें और न ही अनिष्ट सोचें। दूसरों के सुख के लिए अपने गलत कदमों को रोकें—यही संयम है। इसका फलित है—अपनी दुर्बलता का नष्ट होना, अन्याय के प्रति असहयोग की शक्ति का जाग्रत होना, इच्छाओं पर विजय एवं दुष्प्रवृत्तियों से बचाव।

निश्चयदृष्टि से—'आश्रवद्वारोपरमः'—आश्रव द्वार से उपरम होना संयम है। व्यापक स्तर पर देखा जाए तो हिंसा आदि पांच अविरतियों का त्याग, कषायों पर विजय, इंद्रियों का निग्रह, आवश्यक प्रवृत्ति करते समय विहित नियमों का पालन तथा मन, वचन, काया की गुप्ति—ये सारे अर्थ 'नैश्चयिक संयम' शब्द में अंतर्निहित हो सकते हैं। इसका फलित होगा—उत्कृष्ट वैराग्य, कषायों का अल्पीकरण एवं लक्ष्य से साक्षात्कार।

आत्मा की विशुद्ध दशा—संयम—अपने-आप में अखंडित है, पर असंयम से आच्छादित होने के कारण उसके विविध रूप हो जाते हैं।

जत्तियाइं असंजमट्ठाणाइं, तत्तियाइं संजमट्ठाणाइं।

(आचारांग चूर्णि 1/4/2)

विश्व में जितने असंयम के स्थान (कारण) हैं, उतने ही संयम के स्थान (कारण) हैं। यथा प्राणियों की रक्षा करना प्राणि-संयम है। इंद्रियों के विषयों से विरक्त होना इंद्रिय-संयम है।

पातंजल योगदर्शन में संयम के पांच रूप स्वीकार किए गए हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनको स्वीकार करने वाला ही यमी है। जैन दर्शन में भी संयम का विशेष लक्षण प्रवज्या की अवस्थाएं हैं।

हिंदी शब्दकोश में संयम का अर्थ—रोक, निग्रह, नियंत्रण, इंद्रिय-निग्रह, धारणा और समाधि, दमन, धार्मिक अनुष्ठान या व्रत, परहेज आदि किया है। इससे स्पष्ट है कि अपने पर

संयम

◎ **गरहा संजमे, नो अगरहासंजमे।**
आत्म-आलोचन संयम है, अगर्हा संयम नहीं है।
(भगवती सूत्र 1/9)

◎ **वय समिदि कसायाणं, दंडाणं तह इंदियाणं पंचण्हं।**
धारण पालण णिग्गह चाय जओ संजमो भणिओ।।
व्रत धारण, समिति पालन, कषाय-निग्रह, मन-वचन-शरीर की प्रवृत्ति रूप दंडों का त्याग, पंचेंद्रिय विजय—इन सबको संयम कहा जाता है। **(पंचसंग्रह 1/127)**

◎ **इंद्रियार्थेषु वैराग्यं प्राणिनां वधवर्जनम्।**
समितौ वर्तमानस्य मुनेर्भवति संयमः।।
इंद्रियों के विषयों में वैराग्य धारण करना और प्राणियों की हिंसा का त्याग करना संयम है। यह धर्म जब समिति में प्रवर्तमान मुनि के होता है, तब वह उत्तम संयम कहलाता है। **(तत्त्वार्थसार 6/18)**

◎ बाह्याभ्यंतर परिग्रह का त्याग, मन-वचन-काय रूप व्यापार से निवृत्ति, अनारंभ, इंद्रिय-विषयों से विरक्तता, कषायों का क्षय—यह सामान्य रूप से संयम का लक्षण कहा गया है। विशेष रूप से प्रव्रज्या की अवस्थाएं होती हैं।
(प्रवचनसार प्रक्षेपक गाथा मूल 240-1)
→

नियंत्रण, व्रत संयम है।

धवला के अनुसार—'सम्यक् यमो वा संयमः' सम्यक् रूप से नियंत्रण संयम है। जैन सिद्धांत दीपिका के अनुसार—'तद्विरतिः संयमः' अर्थात् हिंसा आदि से विरत होने का नाम संयम है।

जीतकल्प भाष्य के अनुसार संयम का स्वरूप है—'सम्मं जमो वा संजमो मण-वइ-कायाण जमणं तु'—मन, वचन और काया का सम्यक् संयमन संयम है। पंचसंग्रह का मंतव्य है—

वय समिदि कसायाणं, दंडाणं तह इंदियाणं पंचण्हं।
धारण पालण णिग्गह चाय जओ संजमो भणिओ॥

(पंचसंग्रह, प्राकृत अधिकार 1/127)

पांच महाव्रतों का धारण करना, पांच समितियों का पालन करना, चार कषायों का निग्रह करना तथा मन, वचन, काय रूप तीन दंडों का त्याग करना और पांच इंद्रियों को जीतना संयम है।

संयम का यह विस्तृत दृष्टिकोण हर अंतःकरण को उद्वेलित करते हुए कह रहा है कि आत्मनियंत्रण के अभाव में मेरा निवास आपके भीतर संभव नहीं और मेरे बिना विकास के शिखर सर करना आकाशकुसुम की तरह निरर्थक है। मन-वचन-काया को वश में रखना ही संयम है। यही संयम दुःखमुक्ति के लक्ष्य तक पहुंचा सकता है।

संयम को विकसित करने के लिए सर्वप्रथम स्व-संयम, आत्म-संयम बहुत जरूरी है। अथर्ववेद (4/31/3) में कहा है 'वशी वश नयासा एकजत्वम्'—सर्वप्रथम तू अपने-आप को संयमित कर। अपने-आप पर संयम करके ही व्यक्ति दूसरे प्राणियों के प्रति असंयम की भावना से उपरत हो सकता है। इसके लिए जीवन में श्रद्धा और ज्ञान, इन दो तत्त्वों की समन्विति अत्यावश्यक है। क्योंकि उनके बिना संयम की प्रवृत्ति ही नहीं होती। 'न श्रद्धानं ज्ञानं चान्तरेण संयमः प्रवर्तते' (भगवती आराधना वि. 116)—ज्ञान एवं श्रद्धा के बिना असंयम से विरत नहीं हुआ जा सकता तथा संयम विकसित नहीं हो सकता। असंयम को जन्म देने वाली विकारग्रस्त पांच इंद्रियां एवं विषयासक्त मन को श्रद्धापूर्ण कामों में नियोजित करना तथा आत्मनियंत्रण की लगाम से नियंत्रित करना संयम की दिशा में प्रस्थान का राजमार्ग है। सम्यक् दृष्टिकोण तथा भोगोपभोग के साधनों की सर्वसुलभता के बावजूद भी सीमा हो तो संयम का स्वर मुखर हो सकता है। इसके लिए निरंतर अभ्यास जरूरी है। अभ्यास, अनासक्तता एवं त्याग की मनोवृत्ति संयम के पोषण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। भगवान श्रीकृष्ण को अर्जुन प्रश्न करता है—'चंचलः हि मनः कृष्ण'—हे कृष्ण! इस चंचल मन को वश में कैसे किया जा सकता है? भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—'अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसको वश में किया जा सकता है।' इससे स्पष्ट है कि अभ्यास व वैराग्य से संयम विकसित हो सकता है।

संयम को कसौटी पर निखरने के लिए वैराग्ययुक्त अंतःकरण चाहिए। बलिदान रूपी मजबूत कंधों पर खड़ा रहकर ही व्यक्ति हृदय को वैराग्य की तरंगों से आप्लावित कर सकता है। पाप का प्रक्षालन भी तभी संभव हो सकता है।

→

- ◎ **अभयकरो जीवाणं सीयधरो संजमो भवइ सीओ**
  प्राणिमात्र को अभय करने के कारण संयम शीतगृहवत् शांतिप्रद है। **(आचारांग निर्युक्ति 206)**
- ◎ **चउव्विहे संजमे मण संजमे, वइ संजमे, काय संजमे, उवगरण संजमे।**
  संयम के चार रूप हैं—मन का संयम, वचन का संयम, देह का संयम और उपकरण का संयम। **(स्थानांग 4/2)**
  मणसंजमो णाम अकुसलमणनिरोहो, कुसलमण उदीरणं वा।
  अकुशल मन का निरोध और कुशल मन का प्रवर्तन—मन का संयम है। **(दशवैकालिक चूर्णि-1)**
- ◎ चिदानंदमय अनुभूति ही संयम का साध्य है। **(आचार्य तुलसी)**
- ◎ इंद्रियनिग्रह कुछ समय के लिए होता है। इंद्रिय-संयम सारे जीवन का तत्त्व है। **(विनोबा भावे, स्थितप्रज्ञ दर्शन)**
- ◎ जी जो चाहता है, वह तो पशु भी करता है, फिर आदमी की अपनी विशेषता कहां है? संयम-शृंखला, साधना—यह सब तो मनुष्य के लिए ही हैं। **(विमलमित्र, साहब बीबी गुलाब)**
- ◎ जो इंद्रियों पर संयम रखता है, उसकी विजय होती है। **(गेटे, फाउस्ट)**

→

संयम की कसौटियां हैं—

⊙ प्राणिमात्र के प्रति करुणा ⊙ राग-द्वेष का अभाव ⊙ कषायमुक्ति की दिशा में प्रस्थान ⊙ आत्म-नियंत्रण ⊙ अनिष्ट चिंतन से मुक्ति ⊙ हिंसा आदि से विरक्ति ⊙ विधेयात्मक चिंतन

'संयमः खलु जीवनम्'—संयम ही जीवन है। असंयम से उत्पन्न समस्याओं का विकराल रूप शायद कुछ ही समय में विश्व को विनाश के कगार पर खड़ा कर देगा। सैकड़ों प्रयत्नों के बावजूद भी उस भयंकर संकट से मानव को उबारना दुरूह हो जाएगा। अभी भी मानव चेत जाए, अपनी आंखें खोल ले, तो ऐसा कौनसा इष्ट है जो उसे संयम से नहीं मिलेगा? प्रत्यक्ष अनुभव में आए संयम के महाफल को देख प्रत्येक व्यक्ति को उसमें यत्न करना चाहिए।

संसार में दुर्लभ मनुष्यत्व, उत्तम जाति, धर्मश्रवण, सम्यक् दर्शन आदि भी बिना संयम के मोक्ष रूप अद्वितीय फल नहीं दे सकते।

संयम की महत्ता परिलक्षित करते हुए काका कालेलकर ने कहा है—संयम के द्वारा ही मनुष्य की अनुभव शक्ति बढ़ती है, हर तरह का सामर्थ्य बढ़ता है। सार-असार का भेद समझने की सूक्ष्म बुद्धि बढ़ती है और मनुष्य-जीवन साफल्य तक पहुंचता है। संयम में ही जीवन-साफल्य की पराकाष्ठा है।

यदि संयम न हो तो व्यक्ति संसार-रूपी सागर में डुबकियां लगाता ही रहेगा। कभी-कभी वैर की परंपरा को भी संपोषण देता हुआ नजर आएगा। संयम की एक मुख्य उपलब्धि है—'संयमतो वेरं न चीयति' (उदान, 8/5)—संयम करने से वैर नहीं बढ़ता है। संयम का एक बहुत बड़ा सूत्र बन सकता है—मन की मांग का अस्वीकार। प्राणिमात्र के भीतर शुभ-अशुभ सभी प्रकार के भाव विद्यमान हैं। भगवान महावीर ने असंयम को बढ़ाने वाली प्राणातिपात, मृषावाद, राग-द्वेष, पर-परिवाद आदि 18 ग्रंथियों का उल्लेख किया है। महावीर ने संयम का एक सूत्र दिया और कहा—जब-जब ये निषेधात्मक भाव हमारे पर हावी होने का प्रयत्न करें, हम उनके साथ युद्ध करें। सामान्यतया युद्ध रणभूमि में लड़ा जाता है, पर महावीर ने चेतना की भूमि पर युद्ध लड़ने के लिए कहा। युद्ध में ये परास्त हो जाएंगे, उनकी मांग अस्वीकृत हो जाएगी और संयम का स्वर मुखर होगा।

समय जब सांसों का हिसाब मांगता है, मनुष्य की आंखों में यदि केवल आंसू होते हैं तो उसका कारण असंयम ही है। यदि संयमशील जीवनशैली होगी तो आंखों में आंसू नहीं मिलेंगे। यदि आदमी में संयम नहीं जागेगा तो एक बार निःशस्त्रीकरण हो जाने पर भी भयंकर से भयंकर शस्त्र बनते जाएंगे। बढ़ती हुई आकांक्षाओं की ज्वाला भोग-सामग्री का योग पाकर विस्तृत होती रहेगी। उसे शांत करने का यदि कोई उपाय है, तो वह संयम ही है।

जिस दिन मनुष्य संयम का मूल्य समझेगा और शुरू से संयममय जीवन जीने का संस्कार दिया जाएगा, उसी दिन विद्या द्वारा दुखमुक्ति का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकेगा।❖

→

◎ **काम क्रोध मदाद्यमैन यसुहृद्वर्गम्बुलन् गेल्वने,**
धीमंतुडु समर्थु डातंडु विरोधि व्रातमुं गेलचु।
काम, क्रोध, मद आदि छह अंतःशत्रुओं को जो धैर्य से सामना करके जीत सकता है, वह अपने सभी विरोधियों को जीतने में समर्थ हो सकता है।
(एर्रना नृसिंहपुराण, तेलगु)

◎ जिन राखा संयम सदा, वह औषधि क्यों खाय?
अपना मन वश में किया, कभी न मांगन जाय।
(मेलाराम, शिक्षा सहस्री)

◎ विद्यार्थी अवस्था में संयम की महान विद्या सीख लेनी चाहिए। जब आप संयम की शक्ति का संग्रह कर लेंगे तो एकाग्रता भी—जो जीवन की एक महान शक्ति है—पा लेंगे। **(विनोबा)**

◎ जो आत्मसंयमी है वही सर्वशक्तिमान है। **(सेनेका)**

◎ जो आत्मसंयमी नहीं है वह स्वतंत्र नहीं है।
(पाइथागोरस)

◎ राग-द्वेष से रहित हो समभाव में स्थित होना संयम है।
(जिनदास महत्तर)

◎ आत्मवान होना संयम की दिशा में चरणन्यास है, क्योंकि आत्मवान संयमी पुरुषों को न तो विषयों में आसक्ति होती है और न वे विषयों के लिए युक्ति ही करते हैं।
(अश्वघोष, बुद्धचरित 4/91)

•

सराहना साहस की

नीला सुब्रमण्यम

पहली घंटी बज गई थी। बच्चे अपने-अपने बस्ते कक्षा में रखकर प्रार्थना सभा की ओर जा रहे थे। चलते-चलते आठवीं कक्षा के टिक्कू कपूर ने अपने साथियों से कहा, 'आज हमारी कक्षा में एक नया लड़का दाखिल हो रहा है!'

'ऐसा नहीं हो सकता!' सुरेश ने टिक्कू की बात काटते हुए कहा। 'क्या तुम सच कह रहे हो?' आनंद ने पूछा। आनंद आठवीं कक्षा का कप्तान था।

'हां, मैं सच कह रहा हूं!'

'परंतु ऐसा कैसे हो सकता है? प्रिंसिपल सर तो नियमों के बहुत पक्के हैं। वह साल के बीच में किसी लड़के को दाखिला नहीं दे सकते।'

'हां, यही तो हमारे स्कूल का नियम है', रवि ने आनंद की हां में हां मिलाते हुए कहा। 'मैं सच कह रहा हूं, मैंने अपने कानों से सुना है। प्रिंसिपल सर, गणित के सर को बता रहे थे', टिक्कू ने अपनी बात पर जोर देते हुए कहा।

रवि ने खुश होकर कहा, 'फिर तो ठीक ही होगा। लेकिन वह खेल में चुस्त हो तभी तो मजा आएगा।'

'और यह भी तो हो सकता है कि उसका मन खेल में न लगता हो', टिक्कू ने रवि को चिढ़ाने के लिए कहा और जोर से हंस पड़ा। रवि झेंप गया। सभी लड़के टिक्कू की तरफ देखकर मुस्करा दिए, क्योंकि टिक्कू को खुद भी भागने-दौड़ने वाले खेल पसंद नहीं थे। उसे तो बैठकर शतरंज खेलना पसंद था।

सुरेश ने टिक्कू का पक्ष लिया, 'टिक्कू का कहना सही भी हो सकता है। सभी को तो खेल पसंद नहीं होते।' सुरेश स्कूल की फुटबॉल टीम में जाना चाहता था। वह खेलता भी अच्छा था, इसलिए वह नहीं चाहता था कि कोई ऐसा लड़का क्लास में आ जाए जो उससे अच्छी फुटबॉल खेलता हो।

तभी प्रार्थना के लिए दूसरी घंटी बज गई और उनकी आपसी बातचीत बीच में ही रुक गई और वे प्रार्थना के लिए हॉल की तरफ चल दिए। प्रार्थना के बाद जब वे कक्षा में पहुंचे तो उन्हें देखकर

> *"मेजर साहब ने कहानी सुनाते हुए कहा, 'एक बच्चे को खेल से बहुत प्यार था। एक दिन वह फुटबॉल का मैच खेलकर घर लौट रहा था, तभी उसने 'बचाओ.... बचाओ....' की पुकार सुनी। वह बच्चा उसी दिशा में दौड़ पड़ा। उसने देखा आवाज एक छोटे बच्चे की थी जो फिसलकर नदी में गिर पड़ा था और डूब रहे बच्चे को बचाने वह पानी में कूद पड़ा। उसे यह भी याद नहीं रहा कि उसे तैरना नहीं आता।"*

बालकथा

आश्चर्य हुआ कि उनके क्लास टीचर रुद्र सर वहां पहले से ही बैठे हुए थे।

'गुड मॉर्निंग, सर!' बच्चो ने उनका अभिवादन किया। 'गुड मॉर्निंग, बच्चो!' रुद्र सर ने मुस्कराते हुए जवाब दिया और बोले, 'मुझसे अभी-अभी कोई मिलने आने वाले हैं। तब तक मैं आप लोगों से इतिहास के कुछ प्रश्न पूछता हूं!'

बच्चे मुस्करा दिए। वे तो जानते थे कि कौन मिलने आने वाला है। वे सभी उत्सुक भी थे। दस मिनट में ही प्रिंसिपल साहब कक्षा में आए। बच्चों ने खड़े होकर उनका अभिवादन किया। प्रिंसिपल साहब के पीछे एक दुबला-पतला लड़का भी आया था।

प्रिंसिपल साहब ने कहा, 'बच्चो, यह चंद्रकांत गुप्ता है। आज से यह आपकी कक्षा का विद्यार्थी है। इसे अपने 'पाइन हाइट' ग्रुप में शामिल कर लें।' कहकर प्रिंसिपल साहब ने चंद्रकात को एक खाली सीट पर बैठने का इशारा किया। चंद्रकांत संकुचित होता हुआ सामने की खाली सीट पर बैठ गया। प्रिंसिपल साहब ने रुद्र सर से भी कुछ कहा और चले गए।

रुद्र सर ने इतिहास के प्रश्न पूछने शुरू किए। 'टिक्कू कपूर, तुम बताओ कि चाणक्य किस राजा का मंत्री था?'

'सर, चंद्रगुप्त का', टिक्कू ने जवाब दिया।

'बिलकुल ठीक, बैठ जाओ', सर ने कहा।

वह प्रश्न पूछते रहे और छात्र जवाब देते रहे। परंतु, उनका मन पढ़ाई में नहीं लग रहा था क्योंकि वे चंद्रकांत से बातचीत करना चाहते थे।

दोपहर के भोजन की घंटी बजने पर बच्चे भोजन कक्ष में जमा थे।

आनंद ने चंद्रकांत के कंधे पर हाथ रखकर कहा, 'पाइन हाइट ग्रुप की तरफ से तुम्हारा स्वागत है, तुम्हें यहां कैसा लग रहा है?'

'धन्यवाद, तुम मुझे चंद्र भी बुला सकते हो। मुझे यहां बहुत अच्छा लग रहा है, मैं तो हमेशा बोर्डिंग स्कूल में ही पढ़ना चाहता था।'

आनंद ने सभी से चंद्रकांत का परिचय कराया।

रवि ने पूछा, 'चंद्र, तुम्हें कौनसे खेल पसंद हैं?'

'फुटबॉल'।

रवि के चेहरे पर चमक आ गई। पर तभी चंद्रकांत ने कहा, 'परंतु मैं अब फुटबॉल नहीं खेल सकता।'

'ऐसा क्यों?' रवि ने उदास होते हुए पूछा, 'देखने में तो तुम तंदुरुस्त लगते हो।'

चंद्रकांत ने कोई जवाब नहीं दिया।

तभी सुरेश भोजन कक्ष में आया। आते ही उसने चंद्रकांत से कहा, 'हैलो चंद्रकांत! मैं इस कक्षा का सबसे ताकतवर लड़का हूं, हर नए लड़के को मुझसे ताकत आजमानी पड़ती है, तुम भी अपनी आस्तीनें मोड़कर तैयार हो जाओ।' अब क्या होगा, यह देखने के लिए सारे लड़के चारों तरफ जमा हो गए थे।

चंद्रकांत ने एक बार सुरेश की तरफ और एक बार बाकी लड़कों की तरफ देखा। वे सभी इस मुकाबले को देखने के लिए खड़े थे। चंद्रकांत ने एक गहरी सांस ली और धीरे से कहा, 'सुरेश, तुम्हारा बहुत-बहुत धन्यवाद कि तुमने मुझसे मुकाबले के लिए कहा। लेकिन मुझे इस तरह ताकत आजमाना बिलकुल भी पसंद नहीं है!'

'कायर!' सुरेश ने उसे चिढ़ाते हुए कहा, 'आज से तुम्हारा नाम होगा—कायर चंद्रकांत!'

आनंद, रवि व अन्य सभी लड़के सुरेश के इस व्यवहार से खिन्न और परेशान थे। तभी आनंद ने चुप्पी तोड़ते हुए कहा, 'सुरेश, तुम अब यहां से जाओ।'

'ठीक है कप्तान', सुरेश ने कहा, 'मैं इस बेचारे चंद्रकांत को छोड़ देता हूं, ताकि यह तुम्हारे पीछे छिपा रहे।'

सुरेश चला गया। चंद्रकांत को लड़कों के धीमे-धीमे हंसने की आवाज सुनाई दी। लेकिन उसने उसकी परवाह नहीं की। टिक्कू कपूर ने चंद्रकांत के कंधे पर हाथ रखा और कहा, 'तुम इनकी बातों पर ध्यान मत दो। इन सबको तो कूद-फांद वाले खेल पसंद आते हैं, चलो हम शांति से शतरंज खेलेंगे।'

चंद्रकांत ने टिक्कू की बात मान ली। इसके बाद

चंद्रकांत ने महसूस किया कि सभी लड़के उससे बातचीत तो करते हैं, परंतु उसे अपना मित्र नहीं बनाते।

धीरे-धीरे टिक्कू चंद्रकांत का पक्का साथी और मित्र बन गया। वह चंद्रकांत को कभी भी अकेलापन महसूस नहीं होने देता। टिक्कू अपनी पढ़ाई में लगातार आगे बढ़ रहा था। हर बार उसकी रिपोर्ट पहले से बेहतर होती। बस, अब परीक्षा-परिणाम निकलने में कुछ ही दिन बाकी थे। वार्षिक परीक्षा हो चुकने के बाद सभी चिंतामुक्त और खुश थे। वे दिन-भर फुटबॉल के मैच की तैयारी करते। उनके स्कूल में सत्र के आखिर में एक फुटबॉल मैच होता था, जिसे देखने सभी बच्चों के माता-पिता भी आते थे। परीक्षा-परिणाम निकलने और मैच के बाद बच्चे अपने-अपने माता-पिता के साथ घर चले जाते थे।

इन दिनों बच्चे अपना-अपना सामान बांध रहे थे। एक-दूसरे को अपने घरों के पते दे-ले रहे थे और छुट्टियों में मिलने आने के वायदे कर रहे थे।

प्रिंसिपल साहब की तरफ से सभी माता-पिताओं को फुटबॉल मैच देखने का निमंत्रण भेजा जा चुका था।

सुरेश जानता था कि चंद्रकांत का प्रिय खेल फुटबॉल है। इसलिए वह उसे चिढ़ाने का आखिरी मौका हाथ से नहीं जाने देना चाहता था।

जब उसके माता-पिता आए, तब वह गर्व से फूला नहीं समा रहा था, क्योंकि वह स्कूल की फुटबॉल की एक टीम का कप्तान चुना गया था। तभी एक और कार आकर रुकी। चंद्रकांत सीढ़ियों से दौड़ता हुआ कार के पास पहुंचा। कार में से चंद्रकांत के पिता निकले। वह अपनी मेजर की वर्दी में थे। उन्हें देखकर सुरेश को आश्चर्य हुआ।

उसने अपने दोस्त से कहा, 'सेना के इतने बड़े अफसर, एक मेजर का बेटा इतना डरपोक, जो खेलने से भी डरता है!'

हालांकि यह बात सुरेश ने धीमी आवाज में कही थी, फिर भी चंद्रकांत के माता-पिता ने सुन ही ली। मां को बहुत बुरा लगा, लेकिन चंद्रकांत के पिता ने मां को इशारा किया कि वह जवाब में कुछ न कहे।

मैच शुरू हुआ। मैच बहुत रोमांचक ढंग से खेला जा रहा था। दोनों ही टीमें जोश में थीं और जी-जान से खेल रही थीं। सुरेश काफी समझदारी से खेल रहा था और दूसरी टीम को लगातार पछाड़ रहा था। जैसे ही उसने गोल के लिए बॉल को किक मारी उसके दोस्त वहीं पर खुशी से नाचने लगे। सुरेश की टीम के लिए चंद्रकांत जोरदार तालियां बजा रहा था।

खेल के आखिरी दौर में भी दूसरी टीम कोई गोल नहीं कर सकी। इस तरह सुरेश के गोल के कारण उसकी 'पाइन हाइट' टीम जीत गई।

प्रिंसिपल साहब ने चंद्रकांत के पिता को मंच पर आने का आग्रह किया ताकि वह विजेता टीम को ट्रॉफी व अन्य पुरस्कार वितरित करें।

पुरस्कार वितरित करने के बाद मेजर साहब ने सुरेश के खेल की विशेष तारीफ की। उन्होंने कहा, 'सुरेश ने खेल में ताकत और दिमाग—इन दोनों का बहुत अच्छा इस्तेमाल किया है, परंतु ताकत भी कई तरह की होती है—जैसे शारीरिक ताकत और मानसिक ताकत। मानसिक ताकत में हिम्मत और निर्णय की क्षमता, दोनों चीजें आती हैं। मैं इस विषय पर कोई भाषण नहीं दे रहा हूं। यह काम तो आपके अध्यापक रोज ही करते हैं।' इस पर बच्चे हंस पड़े। मेजर ने आगे कहा, 'लेकिन मैं एक कहानी सुनाना चाहता हूं।'

सभी इच्छुक थे कि देखें मेजर साहब कौन-सी कहानी सुनाते हैं।

मेजर साहब ने कहानी सुनाते हुए कहा, 'एक बच्चे को खेल से बहुत प्यार था। एक दिन वह फुटबॉल का मैच खेलकर घर लौट रहा था, तभी उसने 'बचाओ....बचाओ....' की पुकार सुनी। वह बच्चा उसी दिशा में दौड़ पड़ा। उसने देखा आवाज एक छोटे बच्चे की थी जो फिसलकर नदी में गिर पड़ा था और डूब रहे बच्चे को बचाने वह पानी में कूद पड़ा। उसे यह भी याद नहीं रहा कि उसे तैरना नहीं आता।

'काफी मेहनत के बाद उसने बच्चे को बचा लिया। लेकिन उस बच्चे का प्यारा-सा कुत्ते का पिल्ला अभी

पानी में ही था। बच्चे ने लड़के से कहा कि वह उसे भी बचा ले। लड़के ने गहरी सांस खींची और पानी में कूदने ही वाला था कि कुछ लोग उनकी सहायता के लिए आ गए और उन्होंने पिल्ले को पानी से निकाल लिया।

'उस लड़के के साहस के कारण यह सब तो हुआ, लेकिन इसके बाद वह लड़का बीमार पड़ गया। उसे डबल निमोनिया हो गया। इलाज के लिए उसे काफी समय तक अस्पताल में रहना पड़ा। उसी बीमारी के कारण वह लड़का अब अपना प्रिय खेल फुटबॉल नहीं खेल पाता।

'उसी लड़के को आज उसके मित्र कायर कहते हैं। आश्चर्य करते हैं कि एक मेजर बाप का बेटा होकर भी वह खेलों से डरता है! उस लड़के ने आज भी अपने मित्रों को ऐसा कहने के लिए कुछ नहीं कहा, खामोशी से सबके ताने सुनता रहा और खेल के समय अपने साथी खिलाड़ियों का हौसला बढ़ाता रहा।'

आठवीं कक्षा के लड़के समझ गए थे कि यह घटना चंद्रकांत की है। अब उनकी समझ में यह बात आ गई कि उसने खेलने के लिए क्यों मना किया था। वह चंद्रकांत से माफी मांगने में भी झेंप रहे थे, क्योंकि चंद्रकांत के साहस और हिम्मत के सामने वे कुछ भी नहीं थे।

सुरेश सबसे ज्यादा शर्मिंदा था। फिर भी उसने हिम्मत जुटाई और चंद्रकांत की तरफ हाथ बढ़ाते हुए कहा, 'दोस्त, तुम मेरे पागलपन की बातों को भुला दो। मैं तुम्हारे साहस की प्रशंसा करता हूं। मुझमें ताकत चाहे कितनी ही हो, परंतु यह जानते हुए कि मुझे तैरना नहीं आता, किसी को बचाने के लिए मैं नदी में नहीं कूद सकता!'

चंद्रकांत ने मुस्कराते हुए कहा, 'भूल जाओ यार! तुम अगर मेरे साथ ऐसा व्यवहार न करते तो मुझे टिक्कू कपूर जैसा प्यारा दोस्त कैसे मिलता!' ❖

आचार्य भिक्षु : कुशल मनोवैज्ञानिक पृष्ठ 48 का शेष

रोगोपचार। इस विधि के अनुसार हर व्यक्ति के पास तीन प्रकार के मस्तिष्क होते हैं। 1. संवेगात्मक मस्तिष्क—इमोशनल माइंड, 2. सचेतन मस्तिष्क—वाइज माइंड, 3. युक्तिमूलक मस्तिष्क—रेशनल माइंड।

संवेगात्मक मस्तिष्क

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है। इस स्थिति में व्यक्ति के संवेग तीव्रतम हो जाते हैं। संवेग की प्रबलता से व्यक्ति करणीय, अकरणीय का चिंतन किए बिना किसी भी स्थिति में अपने आप-को धकेल देता है। रागात्मक संवेग की प्रबलता के कारण मां अपने बच्चे को बचाने के लिए जलते हुए मकान में भी प्रवेश कर जाती है।

सचेतन मस्तिष्क

इस स्थिति में व्यक्ति बहुत सोच-समझकर कार्य करता है, किंतु जब समझ के साथ परिणामों की शृंखला जुड़ती है, तब चिंतन, निर्णय और क्रियान्विति में समय निकल जाता है। समय पर क्रियान्विति के अभाव में कार्य की निष्पत्ति ठीक नहीं आती।

युक्तिमूलक अथवा विवेकी मस्तिष्क

इस स्थिति में किए गए सारे कार्य संतुलित और परिणाम भद्र होते हैं। क्योंकि यह संवेगात्मक और सचेतन मस्तिष्क का सेतु है। मस्तिष्क से काम लेने वाला 'सुपर मैन' बन जाता है—ऐसा मनोवैज्ञानिकों का अभिमत है।

यह लगता है कि आचार्य भिक्षु ने अपने जीवन में अधिक-से-अधिक कार्य युक्तिमूलक अथवा विवेकसम्मत मस्तिष्क की स्थिति में किए। जब रघुनाथजी से अलग हुए तो उस समय मानसिक द्वंद्व की स्थिति थी, पर आपने इस स्थिति में भी शांत मस्तिष्क से विवेकपूर्ण निर्णय लिए। हर स्थिति में संतुलित रहे। इसलिए अपने लक्ष्य में सफल हुए।

मनोविज्ञान का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है। एक चतुष्पदी के आधार पर यह पूरे विश्व में चर्चित है। चतुष्पदी इस प्रकार है—

• मनोभाव का ज्ञान • मस्तिष्क का परीक्षण • जैव विद्युत रासायनिक परीक्षण • अन्य मनोवैज्ञानिक प्रविधियां।

आचार्य भिक्षु ने भी इन्हीं प्रविधियों के आधार पर अपना कार्य अंजाम दिया। इसलिए वर्तमान युग में भी उनकी प्रासंगिकता बरकरार है। महत्त्व की बात तो यह है कि उस समय इन प्रविधियों का इतना ज्ञान भी नहीं था तब भी इनको मद्देनजर रखते हुए कार्य किया। ❖

With best compliments from :

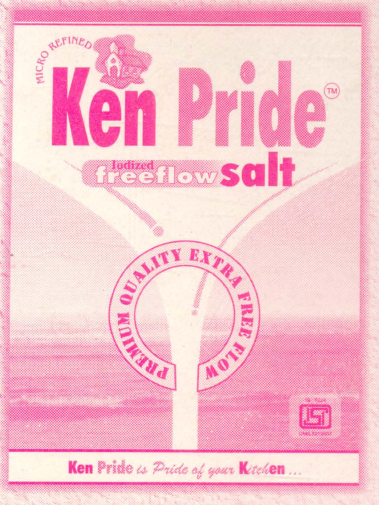

KENPRIDE IS PRIDE OF YOUR KITCHEN

Sukhraj, Babulal, Tribhuvan Kumar
Ashok Kumar, Ramesh Kumar Singhavi
Asada-Wala (Raj.)

TERAPANTH FOODS LTD.

(A Friends Group of Company)

Manufacturers and Exporters of Refined Freeflow Iodised Salt, Pure Grade Industrial Salt and All types of Edible and Industrial Grade Salts

Regd. Office
Maitri Bhavan, Plot No. 18, Sector-8
Gandhidham 370201 Gujarat (India)
Tel : 091-2836-32227, 31588 Fax : 091-2836-33924, 56687
e-mail : friends@ad1.vsnl.net.in Grams : Terapanthi

कोबा (गांधीनगर)
पि. ३८२ ००९

जैन भारती, जुलाई, 2005 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर / 11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।